

# अश्वमेध का प्रतीकात्मक अध्ययन (ASVAMEDHA: A STUDY OF IT'S SYMBOLISM)

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध-सार



निर्देशक :

प्रोफेसर एस० पी० सिंह

शोधकर्त्री :

(श्रीमती) रमेश कुमारी सिंह चौहान

संस्कृत-विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय  
अलीगढ़।

१९८६

### अश्वमेध-संस्कार

अश्वमेध धार्मिक एवं परम आदित्य आर्षों का एक महान् गण था । इसे यज्ञों का सम्राट कहा गया है । अश्वमेध की सम्पन्न करने का अधिकार केवल अग्निधाम्ना क्षत्रिय राजा की ही था । यही कारण है कि इसे क्षत्रियों का यज्ञ माना गया है । अश्वमेध करने का फल समस्त कामनाओं की प्राप्ति बताया गया है । किन्तु समस्त कामनाओं की प्राप्ति परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के बिना संभव नहीं है । उपनिषदों का पद-पद पर कहना है 'उसे प्राप्त करके' कुछ अर्थ 'प्राप्त करने के लिये' कह नहीं रहता वह परमनिधि है । समस्त कामनाएँ उसे प्राप्त करके समाप्त हो जाती हैं । भगवद्गीता की यही कहती है : 'न वास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपारकः ।' अश्वमेध के फल के सम्बन्ध में आये शतपथ ब्रह्मण के 'सर्वान् ह वै कामान् आप्नोति सर्वा वपुस्तीव्रपुरमुतेया कामेधो न यजते येन वाच्यो न देवा न आचार्य नर्क न आत्मायन श्रितपुत्र के 'सर्वकामस्य' पद की व्याख्या में बड़ा साहस करके कहा था : 'सर्वकामस्येति मुमुक्षोः । किन्तु हमें शतपथ में ही 'तद् ब्रह्मण्येवास्तत् प्रतिष्ठितिः' सम में ऐसा उत्प्रेक्षा मिलता है जिस में प्रति पाठित किया गया है कि सर्वव्यापक अश्वमेध करके यजमान ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

अश्वमेध और उस की सम्पन्न किये जाने के हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए बर्गतिंग महोदय ने कहा था : राजसूय यज्ञ की भाँति अश्वमेध केवल एक यज्ञ या स्वन की संरक्षण मात्र नहीं है, यह एक महान् राज्यात्मक भी है जिसे एक विशिष्ट धार्मिक-संस्कार का रूप प्रदान करने के बहुउद्देशीय द्वारा ही बड़ी निष्कृता और चतुराई के साथ धार्मिक एवं

पक्षीय उत्पत्ति के सहस्रिका से तैयार किया गया है। अपनी उन्नत स्थिति में इंग्लैंड ने अरबमेधा के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि की तभी पूरी तरह से स्पष्ट किया किन्तु वे उस के सम्बन्ध में किसे जाने के उद्देश्य के सम्बन्ध में 'बहु उद्देशीय इरादों के साथ तैयार किया हुआ' मात्र कहकर चुप हो गये उन्होंने स्वयं उन उद्देश्यों की स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया। तब तक है ऐसा सब कुछ उन्होंने जानबूझ कर किया। अरबमेधा की यह से अधिक 'राज्यात्मक' बताकर वे इसे वैज्ञानिकप्रदर्शन तक ही सीमित रहाना चाहते थे या फिर 'विशिष्ट धार्मिक-संस्कार' कहकर तार्किक उपलब्धियाँ अपना विज्ञ की शान्ति तक, इस से अधिक नहीं।

अरबमेधा के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रॉ. ए. बी. कीटा का मत है कि यह मूल रूप से राज्यसमुत्ता (प्रिन्सली स्टेट्स) के लिये किया जाता था। इस सम्बन्ध में अंतर्देनबर्ग के विचार भी इसी प्रकार के हैं। किन्तु अगर दिये गये शतपथ आदि के उद्धरणों से स्पष्ट है कि अरबमेधा लिये जाने का मूल उद्देश्य न तो प्रभुता प्रदर्शन था और न तार्किक आयुष्मन्ते या मात्र मनः शान्ति ही, इसे सम्बन्धित किसे जाने का मूल उद्देश्य आत्म कल्याण और राष्ट्रकल्याण था। यह दूसरी बात है कि इस के लिये जाने से आनुसङ्गिक रूप में वह सब कुछ भी प्राप्त होता था जिसकी और वे पारवात्य विद्वान सज्जन कर रहे थे या भारतीय दार्शनिकों ने जिन आत्मसम-बोध की तुलना में उत्पन्न मान मानते हुए 'स्वर्ग' कहा है।

अरबमेधा की शोध के लिये स्वीकार करते समय यह शर्त थी कि अध्ययन की यह सी प्रतीक-आत्मक व्याख्या तक ही सीमित रहना है। किन्तु अध्ययन रूप में अनुभाव किया गया कि अरबमेधा की कुछ विधियाँ, संस्कारों और द्रव्यों आदि की प्रतीक-आत्मक व्याख्या के साथ-साथ अभी स्वयं व्याख्या की भी आवश्यकता है। प्रबन्ध में प्रतीकों की स्पष्ट करते समय यथा स्थान इस आवश्यकता की भी पूरा करने का प्रयास

क्रिया गया है। प्रबन्ध में कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ प्रतीकार्थ की स्पष्ट करने के लिये विधि आदि के सही समझ एवं उपयोग की तय करना अनिवार्य बन पड़ा है।

अश्वमेध समयाग और पशुयाग दोनों धारा इस में तीन दिन समसवन होता था और अश्व एवं अश्व के अतिरिक्त अन्य अनेक पशुओं का आलभान और संक्रमण होता था। समयाग-पशुयान होने के हेतु है इसमें अपने के अतिरिक्त अन्य कई प्रकृतिपागों की विधियाँ भी सम्पन्न की जाती थीं। प्रस्तुत अध्ययन मुख्यतः से अश्वमेध की अपनी विधियाँ आदि की प्रतीक-त्मक व्याख्या उपस्थापित करता है और गो रूप से अश्वमेध में व्यक्त अन्य प्रकृति पागों की।

प्रस्तुत अध्ययन में सहायक सामग्री के रूप में यजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं का उपयोग तो किया ही गया है, माध्यमिक शतपथ और उस पर प्राप्त शाखा एवं हरिश्चामी के भाष्यों की भी बरीयता दी गयी है। वाजसनेयिसंहिता पर उलट और महीधर के भाष्यों एवं शतपथ ब्राह्मण के इंगित कृत अग्नीषोमी अनुवाद एवं पाटलिपुत्रियों से भी पर्याप्त सहायता ली गयी है। श्रौतसूत्रों में कात्यायन श्रौतसूत्र का ही विशेष रूप से उपयोग किया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र पर प्राप्त आचार्य कर्क के भाष्य एवं देवयानिक की पद्धति टीका से भी यथा स्थान सहायता ली गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय अश्वमेध के स्वयं से सम्बन्धित है। अध्याय के आरम्भ में अश्वमेध की प्राचीनता के सम्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के मतों की समीक्षा की गयी है। अध्याय के आगे के भाग में यजुर्वेद की शुक्ल और कृष्ण दोनों ही वर्गों की संहिताओं के आधार पर, माध्यमिक शतपथ के आधार पर और श्रौतसूत्रों के आधार पर अश्वमेध के पञ्चीय स्वयं



का चित्र उपस्थापित किया गया है। अश्वमेध के मुख्य पशुओं के चरमों में कहा जा सकता है कि यह वर्षाभार बतने वाला यज्ञ था। इसमें तीन दिन सौम सवन होता था और अनेक पशुओं की बलि दी जाती थी। एक गाँड़ा वीरों के संरक्षण में एकवर्ष तक राज्य में गुमाया जाता था। इस समय यज्ञस्थल पर अनेक संस्कार होते रहते थे। गाँड़े के लौटने पर अनेक संस्कारों और विधियों के साथ इसका वध्य होता था। इसके बचा के साथ ही अनेक ग्राम्य पशुओं का भी वध्य होता था। पशुओं की बचाओं से हवन किया जाता था, बह्मणों की दक्षिणायें दी जाती थी।

प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय अश्वमेध के अश्व एवं तीव्र सम्बन्धी संस्कार आदि से प्रतीकायित अर्थों की व्याख्या है। अध्याय के आरम्भिक अंश में पारश्वत्य विद्वानों के ज्ञातों में अश्वमेध में अश्व के उपयोग पर एक समीक्षा उपस्थापित की गयी है। प्राचीन विद्वानों का कहना है कि अश्व का उपयोग मुख्य रूप से राजा के प्रताप प्रदर्शन के लिए था किन्तु यहाँ स्पष्ट किया गया है कि अश्व यात्र चक्रवर्तित्व प्रदर्शन के लिए नहीं है। इसका उपयोग साक्षात्कार है अश्वमुख्य रूप से सूर्य का प्रतीक है। अश्व के सहयोग से सम्पन्न की जाने वाली विधियाँ भी मुख्यरूप से इसी दिशा में संकेत करती हैं। आध्यात्मिक आधार पर अश्व परमसत्ता का ज्ञापक है। अश्व को बलिदान कर यजमान प्रजापति-रूप हो जाना चाहता है। अश्व का बलिदान उसका वध्य नहीं है बरन् उसका अभ्युत्थान है। ज्ञातमान के साथ ही अश्व प्रजापति रूप ही जाता है, उसका शरीर पारिवाक्य की ढाँढ़ दिव्य हो जाता है और अन्त में वह आदि सत्ता में विलीन हो जाता है। अश्वमेध का यजमान प्रतीक रूप इस अश्व के माध्यम से प्रजापति रूप हो जाना चाहता है।

यह उद्धृत किया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के दशम ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम मण्डल में वर्णित अश्व-  
ना देवस्य ऐसा मानने में सहयोगी है ।

तृतीय अध्याय में अश्वमेधा की वेदी और यूपों से प्रतीकयित  
अर्धाँ का उल्लेख है । वही स्पष्ट किया गया है कि अश्वमेधा की वेदी  
सित्पादिक स्थान पर ही बनायी जाती थी । यह साढ़े सात पुरुष परि-  
माण, पन्द्रह पुरुष परिमाण, साढ़े बारह पुरुष परिमाण या इक्कीस पुरुष  
परिमाण की होती थी । इनमें इक्कीस पुरुष परिमाण की वेदी ही अष्ट  
थी इतिहास ने वेदी के वर्तुर्भावात्कार होने का संकेत किया है । किन्तु यह  
वर्तुर्भावात्कार न होकर पर देताये पूर्वविमुक्त उद्धृत हुए गुरु पक्षी के  
आकार की होती थी । वेदी का पक्षी के आकार का होना यजमान के  
स्वर्गगमन और अमरत्व की प्राप्ति का प्रतीक है । इसके मूल में भावना  
है कि मृत्यु के अनन्तर यजमान पक्षी रूप होकर स्वर्ग की गमन करता है।

अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में अश्वमेधा के यूपों के उमर विस्तृत  
वर्णन है । यूपों की सम्पूर्ण संख्या कितनी होती थी इस तथ्य के उमर  
का त्याग और शतपथ ब्राह्मण के कथनों का आधार बनाकर समीक्षा  
की गयी है और पाया गया है कि इनकी संख्या इक्कीस थी । शतपथ के  
जिन वाक्यों में अश्वमेधा में ग्यारह यूप रटाने का उल्लेख है वह विलम्बमान  
है । सिद्धान्त पक्ष 21 यूप रटाने का ही है । यूपों की 21 की संख्या  
में ही रटाने के कारणों पर भी विस्तृत रूप से यहाँ वर्णन की गयी है और  
पाया गया है कि 21 की संख्या समग्र रूप से सम्बत्सर की और संकेत करती  
है । अश्वमेधा में 21 यूप रटाने यजमान सम्बत्सर रूप ही जाना चाहता है।  
ब्राह्मण 21 यूपों के माध्यम से यजमान की एकविरा प्रतिष्ठा कर उसे आत्म  
रूप में स्थित होने का संकेत भी करता है । यूप त्याग के काल पर भी

इसी ढाण्ड में दवाई की गयी है यूप प्रधान सुत्या से ठीक पहले दिन गाड़े जाते हैं। अश्वमेधा के यूप एक विशेष औपचारिकता के साथ ही गाड़े जाते हैं। इनकी सम्बार्ध-इक्कीस हाथा होती थी। सम्बार्ध के कम-अधिका होने पर यज्ञ के पक्ष में अंतर-आका था। यूपों का गाड़ने से पहले शोधन होता था। यूपों के अग्रभाग पहले होते हैं। वे अष्टांगि होते हैं। इन्हें बधाल युक्त किया जाता था। यूप निश्चित लकड़ी के ही होते हैं। अश्वमेधा में कई प्रकार की लकड़ी के यूप प्रयुक्त होते हैं। अग्निष्ट उद्गाल क्षा का और अन्य क्षा पीतदारु, क्लृब, देवदारु, छादिर और पलाश के होते हैं। वेदी पर इनकी स्थापना एक निश्चित व्यवस्था में ही होती थी। यूपों की रज्जुवाल आदि का रोलाने में आहुमण की भावना यजमान की तरह-तरह की शक्तियों से युक्त करने में है। यूपों और वेदी के द्वारा आहुमण एक पुरुष की मूर्त आकार प्रदान करना चाहता था। और यूपों में अग्नीषोमीय पशुओं का आसमान पर प्रजापति को जीवन्त रूप में उपस्थित करना चाहता था। ताकि यजमान परवातमान रूप अर्चन से जीवन्त एक पुरुष-प्रजापति का पूजन कर कृत-कृत्य हो सके।

प्रबन्धा का चतुर्थ अध्याय अश्वमेधा के एकविंश अह के प्राप्य देवता-पशुओं की प्रतीक-त्मक व्याख्या से सम्बन्धित है अश्वमेधा की द्वितीय सुत्या में अश्व को सम्मिलित कर कुल 3490 प्राप्य पशुओं का आसमान होता था। अध्ययन में सुगमता की दृष्टि से इन्हें पाँच ढाण्डों में विभाजित कर रखा गया है। प्रधान वर्ग पर्यग्य पशु है। यहाँ पर्यग्य पद की व्याख्या कर पर्यग्य पशुओं की व्याख्या निश्चित की गयी है। पर्यग्य पशुओं की प्रतीक-त्मकता पर विस्तार से विचार किया गया है। अश्व राजा का प्रतीक है और उसके बाएँ बाएँ को सुपर और गमूग पुरोहित एवं सेनाध्यक्ष के। अश्व के मस्तक पर कर्णा कृष्णग्रीव अब राजा के तेज सम्पन्न होने का प्रतीक है। अश्व के हनु पर बाने वाली मैथी

राजा के लिये निवास के लक्ष्य वरावर्ती बने रहने का प्रतीक है। मनुष्यत्व में आधुमण बौद्ध पर्यगों की यजमान की बौद्ध शक्तियों के रूप में उपस्थित कर पद्धति पर्यग्य अवस्था से उसे शक्तिपूर्ण रूप में उपस्थित करना चाहता है। पद्धतिशाली पशु अर्थात्माओं के प्रतीक हैं। 'पद्धति' में अवस्थाओं को प्राप्त कर और पुष्ट कर, आधुमण सम्बन्धित रूप अवस्थाओं को प्रजापति के विस्तार या भाग्य के रूप में विस्तार करता है। अवस्था भाग्य है और प्रजापति उसका भाग्य भाग्य अवस्था अर्थात्माओं में विभाजित है। पद्धतिशाली पशुओं के रूपों में आतमान में आधुमण अवस्थाओं और अवस्था के माध्यम में प्रजापति की सेवा से जीवन रूप में युक्त करना चाहता है। यह उसका सम्बन्धित की अधिगत कर लेने, जलधार निरन्तर प्राप्त कर लेने जैसा कार्य है। वार्तुमास्यपशु सम्बन्धित की अवस्था करने वाले बताये गये हैं। अवस्था में वार्तुमास्यों का उपयोग यजमान की प्रजा उत्पन्न करने का साधनत्व प्राप्त करने के लिए है। वार्तुमास्य पशु यजमान की 'प्रजापति' और 'श्री' के प्रतीक हैं। ये पशु प्रजाओं की रोग और पापों से रक्षा करने के लिए भी आतमान किये जाते हैं। इनके माध्यम से यजमान में मृत्यु एवं देशकाल की जीतने की शक्ति जाती है। प्राम्य पशुओं का एकदशिशाली वर्ग राजा के लिए प्रजाओं की अधिगुण करने के लिए है। इनसे यजमान अन्न अन्य रिक्तता की पूर्ति करता है। अवस्था में एकदशिशाली का आतमान लौकिक सुख सम्पन्न के लिए है। आधुमण एकदशिशाली पशुओं की यजमान की प्रजा और पशुओं के रूप में उपस्थित करता है।

प्रबन्ध के पंचम अध्याय में एकदशिशाली के आरण्य पशु एवं अन्य पशु वर्गों की प्रतीकात्मकता पर विचार किया गया है। आरण्यपशु 260 होते हैं। ये पशु विविधता के माध्यम हैं इनमें वराक के लेकर हाथी तक के विशालकाय पशु सम्मिलित हैं। यहाँ आत्मशायी जीवों,

ऊपर की ओर, पृथ्वी के नीचे और कीट पक्षी की भी पशु कहा गया है। इनकी पहचान कर पाना कठिन है। आरण्य पशु 'दशिनी' और 'दशिनी-इतर' इन दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं। दशिनी पशु एक ही दस है। दशिनी पशु विराट के प्रतीक हैं। ब्रह्मण इन्हें पूर्ण आयु के रूप में भी उपस्थित करता है। तीर्थ की संख्या में इनका आलम्बन सम्बन्धन रूप सिद्धि के लिए है। ब्रह्मण के अनुसार आरण्य पशुओं का आलम्बन देवताओं की प्राप्ति के लिये भी है।

इसी अध्याय में पहली और तीसरी सुत्या के सवनीय पशुओं और उनकी प्रतीकात्मकता पर भी बर्णन है। सवनीय पशुओं में तृतीय सुत्या की बीबीस रगविरगी गाये बड़े महत्त्व की हैं। अग्नीषोमीय पशु अनुबन्धन गाये और २ तुपशु एकविंश अरु से इतर दिनों के पशु हैं। अग्नीषोमीय पशु यजुर्गुरु में प्राणप्रतिष्ठा के रूप में आलम्बन किये जाते हैं। अनुबन्धन गाये यजमान के आध्यात्मिक उत्थान की तीन अवस्थाओं की द्योतक हैं। मित्रवस्था के निमित्त आलम्बन की जाने वाली गाये अश्वमेध यात्री के सदाचार और नीतिपुत्र रहने की, देशवदेव के निमित्त आलम्बन की जाने वाली गाये उस के 'देशवस्म' होने की और बृहस्पति के निमित्त आलम्बन की जाने वाली गाये उसके अस्म ही जाने-ब्रह्मस्म ही जाने की प्रकट करती हैं। गाये का ब्रह्मपन यजमान के कर्मस्तराहित ही जाने-मुक्त ही जाने की प्रतीकवित करता है।

२ तुपशुओं का आलम्बन अश्वमेध यात्री के मुक्त हो जाने के बाद भी लोकयात्रार्थ शास्त्रोचित आचरण करते रहने की प्रतीक-प्रतिष्ठा करता है। ब्रह्मण ने २ तुपशुओं के आलम्बन का उद्देश्य स्वर्ग प्रतिष्ठा बताया है। यह स्वर्ग प्रतिष्ठा उन अश्वमेध यात्रियों की प्राप्ति होती है जिन्हें 'सत्तामन्न' ही जाने की अपेक्षा 'स्वर्ग' अभीष्ट है।

प्रवचना का ११७ अध्याय घुमने और घुमावदारता में परकातमान से सम्बन्धित है। यह दो ढाण्डों में विभाजित है। प्रथम ढाण्ड में 'विशिष्ट' घुमने में आतमान किये जाने वाले पशुओं का उत्तेजा कर संयुक्त रूप में इस आतमान की प्रतीकात्मकता को उजागर किया गया है। सोलह की संख्या में पशुओं का आतमान किया जाना पाँडशप्त जगत् की उपलब्धता को प्रतीकायित करता है अर्थात् सोलह स्तर ही जिनका रूप है ऐसे जगत् की समस्त श्री, सद्बुद्धि, वैशाल्य आदि के ऊपर यजमान का आधिपत्य ही जाता है। 'अग्निः' उपम में सत्रह पशुओं का आतमान अश्वमेधा के यजमान को जगत् के साधा-साधा जगत् के अधिपति एवं पाँडशप्त जगत् की सापेक्षता में सत्रहवें प्रजापति को भी प्राप्ति होने को प्रतीकायित करने के लिये है।

अध्याय के द्वितीय ढाण्ड में अन्तर्स्था में आतमान किये जाने वाले आरण्यपशुओं का उत्तेजा है और स्पष्ट किया गया है कि इन्हें किन उद्देश्यों से पर्यायित कर ढाड़ दिया जाता है इनका संकल्पन क्यों नहीं किया जाता। इनका तेरह की संख्या में ही आतमान क्यों होता है आदि।

प्रवचना का सप्तम और अंतिम अध्याय अश्वमेधा के मुख्य होमों से सम्बन्धित है। इसे दो ढाण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम ढाण्ड में अन्न से सम्पन्न किये जाने वाले होम का स्वरूप और प्रतीकात्मकता की दृष्टियों से विवेचन है और द्वितीय में अश्वमेधा में क्या किये जाने वाले पशुओं की वषा, रक्त आदि से सम्पन्न किये जाने वाले होमों का भी दृष्टियों से विवेचन है। अन्न होम धी, सत्तु, धाना और ताज से सम्पन्न किया जाता था। यह प्रथम सुत्या की रात्रि में चरता था। पूरी रात को चार भागों में विभाजित कर उक्त चार द्रव्यों से निश्चित क्रम में हवन होता था। रात्रि के हवन यजमान के तेज युक्त होने का प्रतीक है।

सत्पुत्रों से हवन तीव्र सम्पत्तों के मि. वत् रहने की प्रतीकायित करता है। धाना से किया जाने वाला हवन यजमान के दिनरात सुखी रहने का प्रतीक है और ताजा से किये जाने वाला होम उसके मृत्यु के अनन्तर नशातवत् देदीप्यमान होने की प्रतीकायित करता है।

अध्याय के दिवतीय भाण्ड में बटसुना और उसकी प्रतीकात्मकता पर प्रकाश डाला गया है। पशुओं का बधा करने के विधानों और उनके मृत में दिये प्रतीकाधार्मिक यथा प्रकट करने का प्रयास किया गया है। इस भाण्ड में ही अश्व के शरीर में गाड़े जाने वाली 303 सुइयों के रहस्य की स्पष्ट किया गया है और अश्व आदि के विशाल प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ बताने का प्रयास किया गया है कि अश्व के रक्त की आहुति देने से पहले क्यों पकाया जाता था। यथा होम से पहले सम्पन्न किये जाने वाला महामोक्ष यथा है और यथाहोम है वह वैचारिक आधार पर किस प्रकार जुड़ा हुआ है। पूर्वमहिमग्रह यथाहोम से पहले ही क्यों प्रकट किया जाता था और इसका प्रतीकाधार्मिक यथा है इत्यादि विषयों पर भी इसी भाण्ड में विचार किया गया है। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि वनस्पतिहोम यथाधार्मिक में सोम के दिये किया गया होम है, जो अमरता का प्रतीक है। उत्तरमोक्षग्रह में सोम का गारा जाना वनस्पति होम के सोम के निमित्त ही किये जाने में प्रभाव है। अश्वधोम होम, अश्वधुमदेवी के दिये आश्व होम, विश्वशुक्ल होम, तौहित होम आदि के स्वल्प एवं उनकी प्रतीकात्मकता पर विचार भी इसी भाण्ड में हुआ है। 'दिवशाहोम' अश्वधोम के प्राणशुक्त मध्यमग्रह की अंतिम विधि और प्रबन्ध के सप्तम अध्याय का अंतिम बिन्दु है। शतपथ ब्राह्मण ने इसे अश्वधोम की उत्तमा आहुति कहा है। दिव्यदाहोम प्रतिष्ठा की प्रतीकायित करने वाली विधि है। ब्राह्मण का कथन है।

प्रतिष्ठा है दिव्यदाह प्रत्येक विधि।

प्रबन्ध में उक्त सात अध्यायों के अतिरिक्त तीन परिशिष्ट भी हैं जिन में क्रमशः दशरथ, राम और युधिष्ठिर के जन्मयोगों का तथ्यात्मक उत्प्रेक्षा है। प्रबन्ध के अन्त में उन सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची संलग्न की गयी है जिनका प्रस्तुत अध्ययन में शोधकर्त्ता ने उपयोग किया है।

\*\*\*\*\*  
\*\*\*\*\*



# अश्वमेध का प्रतीकात्मक अध्ययन (ASVAMEDHA: A STUDY OF IT'S SYMBOLISM)

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध



निर्देशक :

प्रोफेसर एस्० पी० सिंह

शोधकर्त्री :

(श्रीमती) रमेश कुमारी सिंह चौहान

संस्कृत-विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय  
अलीगढ़।

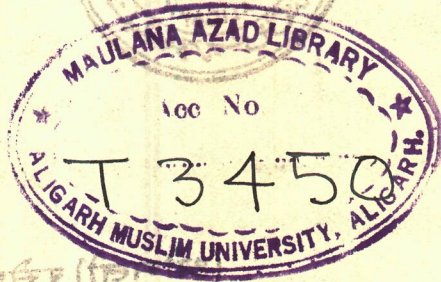
१९८६



MAULANA AZAD LIBRARY  
(MAULANA AZAD LIBRARY)

MAULANA AZAD LIBRARY

MAULANA AZAD LIBRARY



MAULANA AZAD LIBRARY

MAULANA AZAD LIBRARY

CHECKED-2002

MAULANA AZAD LIBRARY



3339

CHECKED 1996-01

### प्राक्स्थान

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ने 'अश्वमेधा' को शांति के लिये चुनने में मुख्य प्रेरणास्रोत का कार्य किया है। कानपुर विश्वविद्यालय के बी. ए. (संस्कृत) के पाठ्यक्रम में परीक्षा की दृष्टि से उक्त सूक्त को पढ़ते हुए सब से पहली बार विचार उठे थे कि क्या हजार सिरों, हजार आँखों और हजार पैरोंवाला भी कोई पुरुष हो सकता है ? यदि ऐसा पुरुष संभव भी हो तो क्या उस का वधा करके यज्ञ जैसा पवित्र कृत्य किया जा सकता है ? क्या पुरुष से यज्ञ करने वाले को पुण्य के स्थान पर पाप नहीं मिला होगा, आदि। जब आगरा विश्वविद्यालय के एम०ए० (संस्कृत) के पाठ्यक्रम में पुरुषसूक्त पुनः पढ़ने को मिला तो अंतस्था में सुप्त पड़े ये विचार पुनः जाग उठे और उनका समाधान पाने के उद्योग में 'सहस्रशीर्षा-पुरुष' आर्यो में धर्म के स्म में प्रबलित विविधा यज्ञों का केन्द्र बिन्दु दीजाने लगा। हो सकता था कि आर्यों के यज्ञ विज्ञान को समझ पाने की लालसा आयी-गयी हो जाती, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। एम. ए. करते ही चार के परिवेश के परिणामस्वरूप 'शांति' की चर्चा होने लगी और मन-मस्तिष्क में पहले से ही पड़े संस्कारों से प्रभावित होकर आर्यों के सर्वश्रेष्ठ यज्ञ अश्वमेधा को शांति-विषय के स्म में चुन लिया गया।

अश्वमेधा को शांति के लिये स्वीकार करते समय यह सोचा था कि अध्ययन को यज्ञ की प्रतीकात्मक व्याख्या तक ही सीमित रहना है। किन्तु अध्ययन-क्रम में अनुभव किया गया कि अश्वमेधा की कुछ विधियाँ, संस्कारों और द्रव्यों आदि को प्रतीकात्मक व्याख्या के साध-साध अभी स्वस्पष्ट व्याख्या की भी आवश्यकता है। प्रबन्ध में प्रतीकों को स्पष्ट करते समय यथा स्थान इस आवश्यकता को पूरा

करने का प्रयास किया गया है। प्रबन्ध में कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहाँ प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने के लिये विधि आदि के सही स्म, काल एवं उपयोग को तय करना अनिवार्य बन पड़ा है।

अश्वमेधा-सोमयाग-और-पशुयाग-दोनों का इस में तीन दिन सोमसवन होता था और अश्व एवं अश्व के अतिरिक्त अन्य अनेक पशुओं का आलम्भन, संज्ञपन होता था। सोमयाग-पशुयाग होने के हेतु से इस में अपने के अतिरिक्त अन्य कई प्रकृतियागों की विधियाँ भी सम्पन्न की जाती थीं। प्रस्तुत अध्ययन 'मुख्य स्म' से अश्वमेधा की अपनी विधियाँ आदि की प्रतीकात्मक व्याख्या उपस्थित करता है और 'गोणस्म' से अश्वमेधा में व्यवहृत अन्य प्रकृतियागों की।

प्रस्तुत अध्ययन में सहायक-सामग्री के स्म में यजुर्वेद की उपलब्ध संहिताओं का उपयोग तो किया ही गया है, माध्यदिन-शतपथ और उस पर प्राप्त सायण एवं हरिस्वामी के भाष्यों को भी बरीयता दी गयी है। वाजसनेयिसंहिता पर उबट और महीधर के भाष्यों एवं शतपथ ब्रह्मण के इगलिंगकृत अंग्रेजी-अनुवाद एवं पादटिप्पणियों से भी पर्याप्त सहायता ली गयी है। श्रौतसूत्रों में कात्यायन के श्रौतसूत्र का ही विशेष स्म से उपयोग किया गया है। कात्यायन-श्रौतसूत्र पर प्राप्त आचार्य कर्क के भाष्य एवं देवयानिक की 'पद्धाति-टीका' से भी यथा स्थान सहायता ली गयी है।

अध्ययन की सहायक-सामग्री का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक लगता है कि पंडित गोपालशास्त्रि नेने ने 'कर्कभाष्य' के साथ कात्यायन-श्रौतसूत्र का 1939 में काशी से जो संस्करण निकाला उस में श्रौतसूत्र को स्पष्ट करने में बहुत ही सहायक पादटिप्पणियों को भी सम्मिलित किया था। श्री नेने का ग्रन्थ की भूमिका में कहना है कि ये पादटिप्पणियाँ उन्हीं की हैं। इन्हें बड़े

परिश्रम के साधन तैयार किया गया है । किन्तु यथार्थ यह है कि अविकल-रूप में ये सभी पाद-टिप्पणियाँ १८५९ में लंदन से प्रकाशित 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' में विद्यमान थीं । कात्यायन-श्रौतसूत्र के उक्त संस्करण के संपादक वेबर महोदय का कहना है कि उन्हें कात्यायन-श्रौतसूत्र पर बिना नाम की यह संक्षिप्त संस्कृत टीका केवल एक पाण्डुलिपि के रूप में मिली थी । वे उसी का कर्कभाष्य और देवयानिक की टीका के साधन दे रहे हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध में वेबर द्वारा दी गयी यह टीका 'संक्षिप्तसार' नाम के साधन प्रयोग में लायी गयी है ।

शांखा-कर्त्री परम श्रेष्ठ प्रो० एस०पी० सिंह के प्रति हार्दिक सम्मान और कृतज्ञता व्यक्त करती है जिन के वैदुष्यपूर्ण निर्देशन और असीम कष्टों के परिणामस्वरूप यह दुस्तर्क कार्य पूर्ण हो सका । आपने पद-पद पर मुझे दिशा-निर्देश ही नहीं किया अपितु अपने बहुमूल्य सुझाव भी दिये हैं जिन के कारण प्रबन्ध में गम्भीरता का समावेश हो सका है । शांखा-प्रबन्ध में अधिकारी विद्वानों का यदि कोई अच्छाई दी जाती है तो इस का पूरा श्रेय मैं गुस्वर प्रो० एस०पी० सिंह को ही देना चाहूंगी ।

मैं परम श्रेष्ठ श्रीमती एस पी. सिंह के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे सदैव स्नेह दिया और स्वीकृत कार्य को शीघ्र ही पूरा करने के लिये बार-बार प्रेरित किया । प्रो० बीरेन्द्र कुमार वर्मा, प्रो० सत्यव्रत सिंह, प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, प्रो० आदयाप्रसाद मिश्र, प्रो० मानसिंह, डा० अजय सिंह, डा० श्री निवास मिश्र, डा० पुष्पा हजेल, डा० एस० आर० शर्मा एवं श्री-युत सोहनलाल गौड़ आदि विद्वानों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अपने विचारों से मुझे लाभान्वित किया ।

पतिदेव डा० तेजवीर सिंह चौहान की मैं सदैव आभारी रहूंगी  
 जिन की प्रेरणा और सहयोग के फलस्वरूप मैं गृहस्थाधर्म के साधा-  
 साधा शांति-कार्य भी पूरा कर सकी । मैं श्री एम०के०अग्रवाल, टंकण-  
 कर्ता की आभारी हूँ जिन्होंने छोड़े समय में ही प्रबन्ध का टंकण  
 कर सहयोग किया । भाई मोहन सिंह और उन सभी महानुभावों  
 के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-  
 रूप से मेरी कोई भी सहायता की है ।

\*\*\*\*\*

रमेश कुमारी सिंह चौहान

श्रीमती रमेश कुमारी सिंह चौहान

विषय - सूची
-------------

प्राक्कथन : :

विषय-सूची :

प्रथम अध्याय : अश्वमेधा का स्वस्म :

द्वितीय अध्याय : अश्व एवं अश्व सम्बन्धी संस्कार -  
आदि से प्रतीकायित अर्था

तृतीय अध्याय : अश्वमेधा की वेदी एवं यूपों से -  
प्रतीकायित अर्था

चतुर्थ अध्याय : अश्वमेधा के देवतापशु और उनका-  
प्रतीकविधानः एकविंशजह के ग्राम्यपशु

पंचम अध्याय : अश्वमेधा के देवतापशु एवं उनका प्रतीक  
विधानः एकविंशजह के आरण्यपशु एवं  
अन्य पशुवर्ग

षष्ठ अध्याय : अश्वमेधा के यूपों और यूपान्तरालों में  
पशुबलभान

सप्तम अध्याय : अश्वमेधा में अन्नहोम एवं वपादिहोम

परिशिष्ट :  
परिशिष्ट -1  
परिशिष्ट -2  
परिशिष्ट -3

सन्दर्भ ग्रन्था-सूची

\*\*\* પ્રધાન અધ્યાય \*\*\*  
\*\*\*\*\*



## अश्वमेधा का स्व-स्म

अश्वमेधा धर्मप्राणा एवं परम आस्तिक आर्यो का एक महान् यज्ञ था। इसे यज्ञों का सम्राट् कहा गया है। अश्वमेधा को सम्पन्न करने का अधिकार केवल अभिषिक्त क्षत्रिय राजा को ही था। यही कारण है कि इसे क्षत्रियों का यज्ञ माना गया है। अश्वमेधा करने का फल समस्त कामनाओं की प्राप्ति बताया गया है। किन्तु समस्त कामनाओं की प्राप्ति परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के बिना संभव नहीं है। उपनिषदों का पद-पद पर कहना है : कि 'उसे' प्राप्त करके 'कुछ अन्य' प्राप्त करने के लिये बच नहीं रहता। वह परमनिधि है। समस्त कामनाएँ उसे प्राप्त करके समाप्त हो जाती हैं। भगवद्गीता भी यही कहती है : 'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थाव्यपाश्रयः।' अश्वमेधा के फल के सन्दर्भ में आये शतपथ ब्राह्मण के 'सर्वान् ह वै कामान् आप्नोति सर्वा व्युष्टीर्व्युश्नुते योऽश्वमेधोन् यजते' जैसे वाक्यों को देखा कर आचार्य कर्क ने कात्यायन-श्रौतसूत्र के 'सर्वकामस्य' पद की व्याख्या में बड़ा साहस करके कहा था : 'सर्वकामस्येति मुमुक्षाः'<sup>2</sup>। किन्तु हमें शतपथ में ही 'तद् ब्रह्मण्येवाततः प्रतितिष्ठति'<sup>3</sup> स्म में ऐसा उल्लेख मिलता है जिस में प्रतिपादित किया गया है कि सर्वाङ्गपूर्ण अश्वमेधा करके यजमान ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है।

अश्वमेधा और उस को सम्पन्न किये जाने के हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए इगलिंग महोदय ने कहा था : राजसूय यज्ञ की भाँति अश्वमेधा केवल एक यज्ञ या हवन की सरणि मात्र नहीं है,

1. श. ब्रा. 13/4/1/1.

2. क. भा. 0, का. श्रौ. सू. 20/1/1.

3. श. ब्रा. 13/4/4/25.

यह एक महान् राज्यात्सव भी है जिसे एक विशिष्ट धार्मिक-संस्कार का स्म प्रदान करने के बहुउद्देशीय (इरादे) से बड़ी निकटता और चतुराई के साथ धार्मिक एवं यज्ञीय तत्त्वों के सहमिश्रण से तैयार किया गया है<sup>1</sup>। अपने उक्त कथान में इगलिंग ने अश्वमेधा के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि को तो पूरी तरह से स्पष्ट किया, किन्तु वे इस के सम्पन्न किये जाने के उद्देश्य के सम्बन्ध में 'बहु उद्देशीय इरादे के साथ तैयार किया हुआ' मात्र कह कर चुप हो गये, उन्होंने स्वयम् उन उद्देश्यों को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया। लगता है ऐसा सब कुछ उन्होंने जानबूझ कर किया। अश्वमेधा को यज्ञ से अधिक 'राज्यात्सव' बता कर वे इसे वैभव-प्रदर्शन तक ही सीमित रक्षाना चाहते थे या फिर 'विशिष्ट धार्मिक-संस्कार' कह कर लौकिक उपलब्धियाँ अथवा क्लृप्ति की शान्ति तक; इस से अधिक नहीं।

अश्वमेधा के उद्देश्य के सन्दर्भ में प्रा. ए. बी. कीधा का मत है कि यह मूल रूप से राज्य-प्रभुता (प्रिस्ती गेटनैस) के लिये किया जाता था<sup>2</sup>। इस सन्दर्भ में ओल्डेनवर्ग के विचार भी इसी प्रकार के हैं<sup>3</sup>। किन्तु उपर दिये गये शतपथ आदि के उद्धारणों से स्पष्ट है कि अश्वमेधा किये जाने का मूल-उद्देश्य न तो प्रभुता-प्रदर्शन था और न लौकिक अभ्युन्नति या मात्र मनः शान्ति ही। इसे सम्पन्न किये जाने का मूल-उद्देश्य आत्मकल्याण और राष्ट्रकल्याण था। यह दूसरी बात है कि इस के किये जाने से आनुसङ्गिक रूप में वह सब कुछ भी प्राप्त होता था जिस की ओर ये पश्चात्य विद्वान संकृत कर रहे हैं या भारतीय दार्शनिकों ने जिसे आत्मस्म-बोध की तुलना में अल्प मान मानते हुए 'स्वर्ग' कहा है।

1. इगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग-5, भूमिका भाग, पृ० 15

2. ए. बी. कीधा, तैत्तिरीय संहिता, भूमिका भाग

3. देहो, वही।

आर्य-सभ्यता के अति प्राचीन काल-ऋग्वेद काल में भारतवर्ष में अश्वमेधा किया जाता था कि नहीं-इस सन्दर्भ में विद्वानों में तरह-तरह की धारणाएँ हैं। इगलिंग महोदय के विचार इस सन्दर्भ में बहुत ही संतुलित हैं। उन का कहना है कि इस बात के पक्के प्रमाण नहीं मिलते हैं कि वैदिक-धर्म के आरम्भिक काल में अश्वमेधा एक प्रामाणिक संस्था (रिकग्नाइज्ड इन्स्टीट्यूशन) थी। यह सही है कि ऋग्वेद के कुछ सूक्त (1/162, 163) अश्वमेधा से सम्बद्ध हैं। किन्तु ये परवर्ती हैं। साधा ही ऋग्वेद में पशुयज्ञों के उल्लेख भी मिलते हैं। अतः पक्के साक्ष्य न मिलने के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि अश्वमेधा परवर्ती काल का यज्ञ है।

इगलिंग का यह भी कहना है कि अश्वमेधा के साधा अनेक ऐसे कारण जुड़े हुए थे जो समाज में इस के व्यवहृत होने को कम करते थे। अतः कम मात्रा में व्यवहृत होने का हुआ होने के कारण इसे परवर्ती कहना ठीक नहीं होगा। इसे बहुत बाद का न मानने में एक अन्य कारण यह भी है कि वाजसनेयिसंहिता पर कात्यायन की अनुक्रमणी इसे 'छात' नहीं बताती; जबकि संहिता के अश्वमेधा (अध्याय-22-25) से बाद के भाग को वह छात कहती है<sup>2</sup>।

इगलिंग का यह भी कहना है कि यदि उन्हें ऐसा अनुमान लगाने का अधिकार मिलता है कि अश्वमेधा प्राचीन काल में आर्यों को ज्ञात था और वे उसे व्यवहार में लाते थे तो वे यह कहना पसन्द करेंगे कि इसमें अश्वमुख्यस्म से वस्त्र के लिये समर्पित किया जाता था<sup>3</sup>।

1. इगलिंग, श. ब्रा., भाग-5, भूमि भाग, पृ० 17

2. वही, पृ० 15

3. इगलिंग, श. ब्रा., भाग-5, भूमि भाग, पृ० 20

अश्वमेधा की प्राचीनता के सन्दर्भ में कीष्ण के विचार इगलिंग की तुलना में अपेक्षाकृत एकपक्षी हैं। उनका कहना है: ऋग्वेद (1/164) में जिस 'ब्रह्मोद्भूत' का वर्णन है वह अश्वमेधा के लिये ही है। ऋग्वेद (1/162, 163) पूरी तरह से अश्वमेधा को स्वीकार करता है<sup>1</sup>।

इगलिंग का ऋग्वेद के अश्वमेधा सम्बन्धी सूक्तों को अपेक्षाकृत परवर्ती मानना पाश्चात्य विद्वानों की निर्मूल धारणा का परिणाम है: अभी तक निर्विवाद रूप में यह सिद्ध नहीं हो सका है कि ऋग्वेद का प्रथम और दशम मण्डल परवर्ती ही हैं। पाश्चात्यविद्वान् इन मण्डलों को परवर्ती इसलिये मानते हैं क्योंकि इन में वैदिक ऋषियों का दार्शनिक चिन्तन प्रौढ़ रूप में उपस्थित हुआ है। किन्तु ऐसे सफल प्रयास भी हुए हैं जिन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि आर्यों की दार्शनिक प्रौढ़ता ऋग्वेद के इन दो मण्डलों में ही व्यक्त नहीं हुई है, पाश्चात्याँ के द्वारा ऋग्वेद का प्राचीन भाग माने गये मण्डल (ऋ0वे0मण्डल 2-8) भी उस की सीमा से बाहर नहीं है<sup>2</sup>। अतः कीष्ण का यह कहना सही लगता है कि ऋग्वेद अश्वमेधा को पूरी तरह स्वीकार करता है; यह दूसरी बात है कि विधि को प्रधानता न दिये जाने के कारण उस में अश्वमेधा को उतना स्पष्ट विस्तार नहीं मिल सका है जितना यजुर्वेद में।

यजुर्वेद की कृष्ण और शुक्ल-दोनों ही वर्गों की संहिताओं में अश्वमेधा का साङ्गोपाङ्ग, उत्तेजा है : शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता के 22, 23, 24, 25 और 29 वें अध्यायों में अश्वमेधा का वर्णन

1. ए. बी. कीष्ण, तैत्तिरीय संहिता, भूमिका भाग.

2. ए. पी. सिंह, उपनिषदिक सिम्बलिज्म.

है । माध्यदिन शतपथ के तेरहवें काण्ड में अश्वमेधा वर्णित है । कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में अश्वमेधा एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखा जाता है । इस संहिता में अश्वमेधा संबंधी मंत्र अंतिम काण्डों में विकीर्ण हैं । कृष्ण-यजु की काठक और मैत्रायणी संहिताओं में भी अश्वमेधा सम्बन्धी मन्त्र आते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण में अश्वमेधा की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है । कौषीतकी ब्राह्मण में भी अश्वमेधा के लिये कोई स्थान नहीं है । किन्तु महाकौषीतकी ब्राह्मण में अश्वमेधा उपस्थित है । तैत्तिरीय ब्राह्मण (8,9) में यह व्यवस्थित रूप में वर्णित है । सामवेद के मुख्य ब्राह्मण पंचविश (21/4) में अश्वमेधा उपस्थित है । ऋग्वेद के शांखायन श्रौतसूत्र में अश्वमेधा का वर्णन मिलता है । अथर्ववेद के वैतानसूत्र में भी अश्वमेधा का उल्लेख है । आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन आदि के श्रौतसूत्रों में अश्वमेधा एक प्रमुख यज्ञ के रूप में वर्णित है ।

सामान्य रूप से अश्वमेधा को उपस्थित करने वाले उक्त सभी ग्रन्थों के आधार पर और विशेष रूप से वाजसनेयिसंहिता, माध्यदिन शतपथ एवं कात्यायन-श्रौतसूत्र के आधार पर आयोजित के महान् यज्ञ अश्वमेधा का जो यज्ञीय रूप उभारता है वह इस प्रकार है:

अश्वमेधा का यजमान क्षत्रिय राजा होता था। क्षत्रिय की ऋतुहोने के कारण ग्रीष्म में अश्वमेधा करने का उल्लेख मिलता है <sup>2</sup> । किन्तु अधिक मत वसंत के पक्ष में हैं। संभावतः इसलिये कि वह वर्षा-मुक्त है और अश्वमेधा वर्षाभार चलने वाला यज्ञ है । शतपथ के

1. देऊँ, इगलिंग, श. ब्रा. भाग-5, भू० भा० 0, पृ० 16-17; ए बी. कीटा, तैत्तिरीयसंहिता, भू० भा० 0

2. श. ब्रा. 13/4/1/2.

अनुसार फाल्गुनी पूर्णिमा के छः या सात दिन पहले अश्वमेधा के लिये ऋत्विज इकठ्ठे होने चाहिये । इसी आधार पर कात्यायन का कहना है कि अश्वमेधा फाल्गुन शुक्ल-पक्षा की अष्टमी या नवमी को आरम्भ होता था ।

अश्वमेधा का आरम्भ 'ब्रह्मौदनपाक' से होता था । चार पात्रों में चार अजली और चार मुठ्ठी भार चावल अर्घ्य के द्वारा ऋत्विजों के लिये पकाये जाते थे । इनमें धीरे मिलाया जाता था और चारों प्रधान ऋत्विज-अर्घ्य, होता, उद्गाता और ब्रह्मा इसे छानते थे<sup>2</sup> । ब्रह्मौदनपाक का कुछ घृत 'रशना' चुपड़ने के लिये रखा लिया जाता था । चार सहस्र गाये, चार सौ शतमान दक्षिणामें दिये जाते थे । रशना, जिसे चुपड़ने का विधान<sup>3</sup> बारह या तेरह हाथ लम्बी होती थी। यह दाभा की बनी होती थी ।

ब्रह्मौदनपाक के बाद यजमान को दीक्षित किया जाता था । वह पत्नियों के साथ एक समारोह के रूप में अग्निगृह में लाया जाता था । राजा पूर्व से और रानियाँ दक्षिणदिशा से अग्निगृह में प्रवेश करते थीं । प्रत्येक रानी के साथ सौ-सौ अनुचरियाँ रहती थीं । अर्घ्य 'तेजोऽसि' मंत्र के साथ 'निष्क' यजमान के गले में डालता था ।

सायंकाल में अग्निहोत्र सम्पन्न करने के बाद यजमान और महिषी आदि रानियाँ 'गार्हपत्य' में प्रवेश करते थीं । राजा पूर्व से, रानियाँ दक्षिण से । रात्रि में, यहीं पर यजमान उत्तरदिशा को शिर करके 'वावाता' पत्नी की जंघाओं के मध्य ब्रह्मचारी रह कर शयन करता था । अन्य रानियाँ भी गार्हपत्य में ही शयन करती थीं<sup>3</sup> ।

1. का. श्रौ. सू. 20/1/2

2. वही 20/1/4-5 .

3. श. ब्रा. 13/4/1/9 .

प्रातः काल होते ही 'प्रातःहोम' और 'पूर्णजाहुति' के अनन्तर ब्राह्मणों के लिये दक्षिणा दी जाती थी । अध्वर्यु को यजमान धारण किया हुआ 'निष्क' दक्षिणा में देता था<sup>1</sup> । अग्निपथिकृत के लिये पुरोडाश दिया जाता था । एक सौने का शतमान दक्षिणा में दिया जाता था । पूषन् के लिये चरु तैयार किया जाता था । सौ वस्त्र इस की दक्षिणा होती थी<sup>2</sup> ।

इस सब के अनन्तर अध्वर्यु विशिष्ट मन्त्रों के उच्चारण के साथ अश्व के गले में पहलें से तैयार 'रशना' को बांधता था<sup>3</sup> । जिस अश्व के गले में यह रशना बांधी जाती थी वह विशिष्ट लक्षणों से युक्त होता था<sup>4</sup> ।

अश्व को स्थिर जलों के मध्य लेजाकर प्रजापति आदि देवों के मन्त्रोच्चारण के साथ प्रोक्षित किया जाता था । 'अयोगव' या 'पुश्कू' एक चतुर्धा कुत्तों को जलों में ढाढ़े अश्व के समीप सिद्धक के मूसल से मारता था और मरे हुए कुत्तों को बैलस के कट पर रखाकर अश्व के नीचे से बहाया जाता था<sup>5</sup> ।

अब अश्व को अग्नि के समीप लाकर दश देवों के मन्त्रों से हवन किया जाता था । इन मन्त्रों से एक हजार बार या इससे भी अधिक बार हवन किया जाता था<sup>6</sup> ।

सवितृ प्रसवितृ, सवितृ आसवितृ और सवितृ सत्यप्रसव के निमित्त बारह-बारह छापों में पुरोडाश पकाया जाता था । उक्त छत्रि सावितृ इष्टियों के बाद 'स्म आहुतियाँ' दी जाती थीं । ब्राह्मण वीणा-गायक यजमान के यज्ञ और दान से युक्त तीन स्वयंकृत गाथायें उत्तर-

1. श. ब्रा. 13/4/1/9 .

2. का. श्री. सू. 20/1/21; 24

3. श. ब्रा. 13/4/2/4

4. श. ब्रा. 13/4/2/1-4 .

5. का. श्री. सू. 20/1/35-38; 20/2/2, वा. सं 22/5

6. वा. सं 22/6; श. ब्रा. 13/1/3/1 .

मन्त्रालय में गाता था<sup>1</sup>।

अब अध्वर्यु और यजमान अश्व के दाहिने कान में 'विभूमार्त्रा'<sup>2</sup> मंत्र को जपते थे और सौ वृद्धा अश्वों के साथ इस मेध्य अश्व को उत्तर-पूर्व दिशा से एक वर्ष के भ्रमण के लिये बाँड़े दिया जाता था। अश्व सौ राजपुत्र, सौ राजपुत्र<sup>पुत्र</sup>, सौ सूतग्रामणी पुत्र और सौ क्षात्रसंग्रहीत-पुत्रों के संरक्षण में, जो कि विशेष आयुधों से युक्त होते थे<sup>3</sup>, एक वर्ष तक स्वच्छंद भ्रमण करता था। इसे 'वडवा-सहवास' और स्नान कर लेने योग्य जलों से बचाया जाता था। ये रक्षाक लोग भी व्रत ऐसा करते थे। ये उस ब्राह्मण के घर का भोजन करते थे जो 'अश्वमेधान-भिज्ञ' होता था। ये पक्वान्न किसी का भी छान सकते थे<sup>4</sup>। बड़ई के घर ही ये रात को ठहरते थे। भ्रमण से लौटने पर इन्हें यथा-चित रूप में सम्मानित किया जाता था<sup>5</sup>।

अश्व के भ्रमणार्थ विदा कर दिये जाने के बाद यज्ञस्थल पर प्रतिदिन कुछ विधायी सम्पन्न की जाती थीं। इन में पारिप्लव-आख्यान प्रमुख था। अध्वर्यु और होता इस<sup>आ</sup> आख्यान के प्रधान पात्र थे। प्रतिदिन एक नये राजा का आख्यान सुनाया जाता था। होता भी विशिष्ट होते थे। आख्यान का विषय प्रतिदिन बदलता था। बदलने का क्रम दश दिन तक चलता था। दश दिन के बाद पुनः उसी क्रम में आख्यान शुरू होता था। यह प्रक्रिया वर्ष भर चलती थी<sup>6</sup>।

प्रतिदिन, आख्यान के बाद ब्राह्मण वीणा-गायक स्वयंकृत तीन गायार्यें गाता था। इन में यजमान की राजाओं से तुलना की गयी होती थी। प्रतिदिन साँझी-दृष्टियाँ होती थीं। रात्रि में

1. श. भा. 13/4/2/8.

2. वा. सू. 22/19.

3. श. भा. 13/4/2/5.

4. वही 13/4/2/17.

5. का. भा. सू. 20/2/17.

6. श. भा. 13/4/3/1-15.



'धृतिहोम' होता था और धृतिहोम के बाद क्षत्रिय वीणा गायक यजमान के युद्ध और जप से युक्त तीन स्वयंकृत गाथायें उत्तरमन्त्रालय में गाता था। यजमान प्रत्येक रात्रि में वाजता की जघाजों के मध्य ब्रह्मचर्य व्रत के साथ शयन करता था<sup>1</sup>। वर्ष भर के अन्तराल में अश्व के रोगग्रस्त हो जाने पर उसके उपचार के रूप में कुछ दृष्टियाँ होती थी। ये दृष्टियाँ रोगों आदि के हिसाब से भिन्न-भिन्न थी और साक्वि-दृष्टियों के बाद ही सम्पन्न की जाती थी<sup>2</sup>। यदि किसी कारणों से अश्व मर जाता था तो दूसरे अश्व को 'रशना' आदि से संस्कृत कर विधिपूर्वक पुनः छोड़ा जाता था<sup>3</sup>। वीणागायकों के संदर्भ में कात्यायन का विशेष कथन है कि वे एक वर्ष के बाद भी प्रातः और सायंकाल में गायन करते रहें। वे 'दक्षिणीया' तक (वर्षभार) राजा की राजर्षियों के साथ तुलना करें, दक्षिणीया के बाद 'उपवसथा' दिनों में वे यजमान की देवताओं के साथ तुलना करें और सुत्यादिवसों में प्रजापति के साथ यजमान की तुलना करें। वे सुत्याओं के बाद भी 'उदवसानीय' की समाप्ति तक यजमान की प्रजापति के साथ तुलना करते रहें<sup>4</sup>। वीणागायकों की दक्षिणा सौ-सौ-शतमान होनी चाहिए।

शतपथा ब्राह्मण का विधान है कि अश्वोत्सर्ग से आरम्भ करके एक सम्पूर्ण वर्ष समाप्त हो जाने पर अश्वमेधा के निमित्त दीक्षा आरम्भ करे। उस का यह भी कहना है कि प्रजापति के निमित्त 'दृष्टिकापशु' का आलभन कर दिये जाने के बाद सवितृ की दृष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं अर्थात् परिप्लव आख्यान आदि<sup>5</sup> समाप्त हो जाती हैं।

1. का. श्रौ. सू. 20/3/5

2. वही 20/3/12-20.

3. श. ब्रा. 13/3/8/6; का. श्रौ. सू. 20/4/1.

4. का. श्रौ. सू. 20/3/8-11.

5. यहाँ स्मरण रखने योग्य है कि 'वीणागायन' 'दृष्टिकापशु' का आलभन कर दिये जाने के बाद भी चलता रहता है।

6. श. ब्रा. 13/4/4/1.

शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि अश्वमेधा में दीक्षाये बारह<sup>1</sup>, उपसद बारह और सुत्याये तीन होती है<sup>2</sup>। इस की वैदी नित्य जल से युक्त रहने वाले स्थान पर बनायी जाती है। कात्यायन के अनुसार वैदी 7  $\frac{1}{2}$  पुरुष परिमाण या 15 पुरुष परिमाण या 22  $\frac{1}{2}$  पुरुष परिमाण या 21 पुरुष परिमाण की बनायी जानी चाहिये<sup>3</sup>। अश्वमेधा के यूप इत्कीस होते थे और इत्कीस हाथा की उनकी लम्बाई होती थी। मध्यमयूप रज्जुदाल का और उस के बाहर के दोनों यूप पीतुदारु के होते थे। छः छः यूप वित्तव, छः छः और पलाश के होते थे<sup>4</sup>। प्रत्येक यूप में एक अग्नीषोमीयपशु आलभान किया जाता था<sup>5</sup>।

अश्वमेधा की प्रथम सुत्या में 'अग्निष्टोम' की विधियाँ सम्पन्न की जाती थीं। गौतम के स्तोम पढ़े जाते थे जो चार की संख्या के साधन

1. अश्वमेधा की 'दीक्षाये' विवाद का विषय है। कात्यायन आदि की देखाने से ऐसा लगता है कि वे 'सात दीक्षाएँ' करने के पक्ष में हैं। 'दीक्षा' और 'दीक्षाणीया' मिली हुयी लगती हैं। 'अद्गमभाणहोम' का दीक्षाणीया में ही चलना विषय की और अधिक उलझाता है। सबसे अन्त में 'कृष्णाजिन दीक्षा' होती थी। दीक्षा और दीक्षाणीया का उलझाव अश्वमेधा के 'उपसद' और 'सुत्याओं' की विधियों को भी प्रभावित करता है। यही कारण है कि कात्यायन, कर्क, देव्यान्निक और हरि-स्वामी इन की विधियों को भिन्न-भिन्न मानते हैं (देखें क. अ. सू. 20/4/2-13; क०भा० 0, वही; देव०टी०, वही; श. ब्रा. पर हरि०भा० 0, 13/4/4/1-6)।

2- श. ब्रा. 13/4/4/1.

3- क. अ. सू. 20/4/15.

4- क. अ. सू. 20/4/16-20, श. ब्रा. 13/5/1/3.

5- वही 20/4/21.

बढ़ते थे। वहिष्पवमान चार पर, आज्यस्तोत्र आठ पर, माध्यदिन-  
पवमान बारह पर, पृष्ठस्त्रोत्र सोलह पर, आर्भविपवमान बीस पर  
और अग्निष्टोम सवन चौबीस पर होता था<sup>1</sup>। इस दिन के सवनीय  
पशु इक्कीस होते थे। ये एकादशिनी पशु होते थे। मध्यमयूप  
में आग्नेय सवनीय पशु आलभन किया जाता था। शेष यूपों में<sup>2</sup>  
अन्य सवनीयों को एक-एक की संख्या में आलभन किया जाता था।  
द्वितीय सुत्या के सवनीय इक्कीस एकादशिनी पशु और तृतीय सुत्या  
के सवनीय चौबीस विविधा वर्णों की गायें होती थीं<sup>3</sup>।

प्रथम सुत्या-दिवस की संख्या में 'वसतीवरी' जलौं की  
संग्रहीत किया जाता था। इन्हें एक पात्र में मिलाकर प्रत्येक दिशा  
में छुमाया जाता था<sup>4</sup>। वसतीवरी जलौं की दिशाओं में छुमाये  
जाने के अनन्तर आज्य, सत्तु, धाना, और लाज से समस्त रात्रि अन्न-  
होम होता था। रात्रि की समाप्ति पर<sup>5</sup> और सूर्य के उदित होने  
पर घी की आहुतियाँ दी जाती थीं।

द्वितीय सुत्या में यजमान 'महिमाग्रहो' की ग्रहणा करता  
था। अश्व की पूँछ को छूकर 'वहिष्पवमान' का आरम्भ होता  
था। अश्व को अलंकृत करके अलंकृतरथा में जोड़ा जाता था। तीन और  
अन्य अश्व भी रथा में जोड़े जाते थे<sup>6</sup>। अध्वर्यु और यजमान रथा में  
बैठ कर जलाशय तक जाते थे। अश्व के जलाशय में डाढ़े होने पर  
'यद्वाच' मंत्र बोला जाता था। अश्व को वापस लाकर महिषी

1. श. भा. 13 5/1/1.

2. का. श्री. सू. 20/4/23-25.

3. का. श्री. सू. 20/4/25-26.

4. वही, 20/4/31.

5. वही, 20/4/32-34.

6. वा. सं. 23/5, 6.

आदि के द्वारा धृतलिप्त किया जाता था<sup>1</sup>। महिषी आदि भूः भुवः स्वः के उच्चारण-पूर्वक सौ-सौ स्वर्ण-गुटिकायें अश्व के केसर और पूँह के बालों में बाँधाती थी<sup>2</sup>। अश्व को अन्नहोम से अवशिष्ट अन्न ढिलाया जाता था<sup>3</sup>।

यूप का संस्कार किया जाता था<sup>4</sup>। अग्निमन्थान किया जाता था। अग्निष्ठयूप में अश्व, तूपर और गोमृग का आलभान किया जाता था। पर्यङ्गपशुओं का आलभान अश्व में होता था। अग्निष्ठयूप में सत्रह और शेष यूपों में सोलह-सोलह पशुओं का आलभान होता था<sup>5</sup>। यूपान्तरालों में तेरह-तेरह की संख्या में आरण्यपशुओं का आलभान होता था<sup>6</sup>।

अश्व का प्रोक्षाण होता था और उसे प्रोक्षाणी पितायी जाती थी। आरण्यपशुओं को पर्वाग्नि कृत कर छोड़ दिया जाता था और शेष पशुओं का विशेष हधियारों से संज्ञपन होता था<sup>7</sup>।

अश्व का संज्ञपन कुश, वास, अधिवास और हिरण्य के उपर किया जाता था। उस की प्राण-शान्ति कर परिक्रमाएँ की जाती थी। महिषी मृत अश्व के साथ शयन करती थी। अश्व्यु आदि ऋत्विजों और कुमारी, महिषी आदि के मध्य अवशिष्ट परिहास होता था<sup>8</sup>।

1. वा. सं. 23/8.

2. का. अ. सू. 20/5/16.

3. वही 20/5/18; वा. सं. 23/8.

4. वा. सं. 23/9-12; शा. भा. 13/2/6/9; का. अ. सू. 20/6/20-23.

5. का. अ. सू. 20/6/2-5.

6. शा. भा. 13/5/1/15.

7. का. अ. सू. 20/6/7-9, 20/7/3, 4, 5.

8. वा. सं. 23/18-31, का. अ. सू. 20/6/10-21.

वपाहोम के लिये 'विशसन' होता था, अश्व का वेतसकट पर और अन्यो का प्लक्ष की शाखाओं पर। वपायें पकायी जाती थीं। अश्व का रक्त भी पकाया जाता था<sup>1</sup>। वपाहोम से पहले ब्रह्मोद्या होता था<sup>2</sup>। ब्रह्मोद्या के अनन्तर वपाहोम होता था<sup>3</sup>। वपाहोम के बाद यजमान उत्तरमहिमग्रह को ग्रहण करता था<sup>4</sup>। वनस्पतिहोम, अश्वाङ्गहोम, आज्यहोम, स्विष्टकृतहोम और स्विष्टकृत-अग्निषो के लिये तोहेतहोम होता था। दिवपदाहोम के साथ दिवतीयसुत्या की विधियाँ पूर्ण होती थीं<sup>5</sup>।

अश्वमेधा की तृतीयसुत्या में 'अतिरात्र यज्ञ' की विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं। तृतीयसुत्या को ब्राह्मण पारिभाषिक शब्दावली में 'उत्तम-ग्रह' कहता है। इसमें सभी स्तोम पढ़े जाते हैं। ब्राह्मण का कहना है: सर्वस्तोम युक्त अतिरात्र सब कुल है। अश्वमेधा सब कुल है। इस दिन के सवनीय चौबीस गायें होती हैं<sup>6</sup>।

अश्वमेधा की तीनों सुत्याओं की विधियाँ भी पूर्ण करने के बाद यजमान 'अवभृथास्नान' करता था। स्नान के बाद हवन भी होता था। इसे 'अवभृथादृष्टि' कहा गया है। अवभृथादृष्टि के बाद जलो में स्थित पीली भाँजों वाले, सफेद रंग के गजे व्यक्ति के शिर के ऊपर 'जुम्बकाय स्वाहा' से केवल एक बार छी की आहुति दी जाती थी। यजमान के बाद अन्य व्यक्ति भी जलो में स्नान करते थे<sup>7</sup>।

1. का. श्रौ. सू. 20/7/8, 9

2. वही, 20/7/10-14

3. वही, 20/7/22-25.

4. वही 20/7/26

5. वही, 20/8/4-11.

6. श. ब्रा. 13/5/3/9-11, का. श्रौ. सू. 20/8/12-15.

7. (क) का. श्रौ. सू. 20/8/16-22.

(ग) श. ब्रा. 13/5/4/25.

ब्राह्मण अवधूथस्थान की इस समस्तविधि को उदयनीया कहता है<sup>1</sup> किन्तु कात्यायन ने इसकीस अनुबन्ध्याओं के आलभान को भी उदयनीया के अन्तर्गत ही माना है<sup>2</sup>। उदयनीया के बाद अश्वमेधा की दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा में कुमारी और पातागली पत्नी अध्वर्यु को देने का विधान है। किन्तु ऐसे उल्लेख भी हैं कि केवल कुमारी को ही दक्षिणा में दिया जाये। अन्य ऋत्विजों को दक्षिणा में सुवर्ण, शतमान आदि देने का विधान है<sup>3</sup>।

अश्वमेधा सम्पन्न कर लेने के बाद यजमान को अग्नि के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश पकाने का विधान है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे बारह दिन तक ब्राह्मणों के लिये 'ओदन' छिलाना चाहिये<sup>4</sup>। ब्राह्मण और श्रौतसूत्र दोनों ही का कहना है कि आगे के सम्पूर्ण सवत्सर में अश्वमेधा के यजमान को इत्तीस ऋतुपशुओं से यजन करना चाहिये<sup>5</sup>।

\*\*\*\*\*

1. श. ब्रा. 13/5/4/25.

2. का. श्रौ. सू. 20/8/24.

3. श. ब्रा. 13/5/4/26.

4. का. श्रौ. सू. 20/8/28, 29.

5. (क) श. ब्रा. 13/5/4/28.

(ग) का. श्रौ. सू. 20/8/30.

निश्चित व्यक्तियों के यहाँ निश्चित भाजन ही करते थे<sup>1</sup>। रथकार का चार उन का वास-स्थल होता था<sup>2</sup>।

यजमान के शौर्य, प्रताप और प्रभुत्व को समग्र रूप में अपने में समेटे हुए अश्वमेधा का अश्व इधर यज्ञस्थल से योजनों दूर स्वच्छन्द संचरण कर रहा होता था, उधर यज्ञस्थल पर उस के दिन-प्रतिदिन के स्वास्थ्य की रक्षा के उद्देश्य से<sup>3</sup>, छाने जाने, पकड़ लिये जाने या नष्ट कर दिये जाने के भाय को समाप्त करने के उद्देश्य से<sup>4</sup> एवं एक वर्ष के लम्बे अन्तराल में उस से बन पड़ने वाले अपराधों के प्रायश्चित्त के उद्देश्य से<sup>5</sup> सीधे ऋत्विजों के द्वारा या ऋत्विजों के निर्देशन में यजमान के द्वारा<sup>6</sup>, यज्ञीय अश्व की सब ओर से रक्षा करने के कारण 'यज्ञकवच' के रूप में और अश्वमेधा का अभिन्न अंग होने के कारण 'यज्ञविधि' के रूप में, अनेक होम, इष्टि एवं आहुतान आदि सम्पन्न किये जा रहे होते थे। कात्यायन का स्पष्ट निर्देश है 'वावाता-सम्वेशनसावित्र्युत्तरमन्द्रागानपारिप्लवधृतीः सम्बत्सरम्'<sup>7</sup>।

1. वही, 20/1/14, 15; श. ब्रा. 13/4/2/17.

2. वही, 20/1/16; श. ब्रा. - 13/4/2/17.

3. (क) 'हिकाशय स्वाहा हिकृताय स्वाहा' इति। एतानि वा अश्वस्य स्पाणि। तान्येवावस्थौ।' श. ब्रा. 13/1/3/5.

(ग) 'नास्मै भ्रातृव्यं जनयीत।' वही 13/1/3/7.

(ग) 'का. श्री. सू. 20/3/12-19.

4. (क) 'यौ वा अस्यां नित्यते। यौऽन्यत्रेति अस्यां वाव तमनुविन्दति।' श. ब्रा. 13/1/4/2.

(ग) 'यत्सावित्र्यौ भावन्ति अश्वस्यैवानुवित्त्ये।' वही

5. (क) श. ब्रा. 13/3/8/1

(ग) का. श्री. सू. 20/1/20.

6. वावातासवेशन

7. का. श्री. सू. 20/3/5.

अश्व को छोड़ने के दिन से ही यज्ञस्थल पर प्रतिदिन सम्पन्न की जाने वाली उक्त विधियाँ एवं यजमान के विशिष्ट आचरणों से दूरस्था अश्व की सब प्रकार से रक्षा करना व्यावहारिक दृष्टि से कुछ ऐसा ही कार्य है जैसे पृथिवी पर स्थित नियंत्रण-कक्षा से काकाश में स्थापित उपग्रह को नियंत्रित करना । किन्तु यज्ञीय अश्व को निमित्त कर सम्पन्न की जाने वाली उक्त विधियाँ और यजमान के आचरणों का एक प्रतीकात्मक पक्ष भी है जो आगे अश्व के स्वयं के प्रतीकात्मकत्व को स्पष्ट कर दिये जाने पर स्वतः स्पष्ट हो जायेगा ।

अश्वमेध के अश्व को एक वर्षा के स्वच्छन्द भ्रमण के लिये छोड़ते समय कुछ विशेष विधियाँ सम्पन्न की जाती थीं। अश्व के वास्तविक स्वल्प और उसे भ्रमण के लिये छोड़ जाने के उद्देश्य को समझने के लिये इन्हें देखा लेना उचित होगा। 'ब्रह्मादिनपाक' से अश्व शिष्ट धृत से चुपड़ कर पहले से ही तैयार रहती 'बारह' या 'तेरह' हाथ लम्बी दुलरी दाभा की रस्सी को 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽ-रिवनार्बाहुभ्या पूष्णा हस्ताभ्यामाददे' मन्त्र के साथ उठाकर 'अभिधासि भुक्नमसि यन्तासि भात्ता' । स त्वमग्निं वैश्वानरं सप्रधासं गच्छ स्वाहाकृतः' मन्त्र के साथ अश्व के गले में बांधा जाता था<sup>1</sup> । अब उसे स्थिर जलों के बीच लेजा कर 'प्रजापतये त्वा' इत्यादि पाँच मंत्रों के द्वारा, जो क्रमशः प्रजापति, इन्द्रअग्नि, वायु, विश्वेदेवा और सर्वदेवा से संबन्धित हैं, प्रोक्षाण किया जाता था<sup>2</sup>। प्रोक्षाण के अनन्तर अयागव 'सिध्रक' से बने मूस्त से एक चतुरक्षा (आँखों के

1. का. श्रौ. सू. 20/1/7, 25, 26

2. वा. सं. 22/5; का. श्रौ. सू. 20/1/35 .



एक वर्ष के भ्रमण के बाद जब अश्व लौट कर वापस आता था तो यूप में प्रजापति के निमित्त आलभान किये जाने से पहले अश्व उस की पूँछ को छूकर ही 'बहिष्पवमान' के लिये आगे बढ़ता था<sup>1</sup>। जिस समय सदस् में बैठ कर अश्व बहिष्पवमानमंत्रों का उच्चारण कर रहा होता था उस समय अश्व को सदस् के आगे से निकाला जाता था<sup>2</sup> होता 'यदक्रन्द प्रधाम जायमान' आदि ग्यारह मंत्रों से अश्व की स्तुति करता था<sup>3</sup>। 'युञ्जन्ति ब्रह्मम्' मंत्र के साथ अश्व को रथ में जोड़ा जाता था और 'युञ्जन्त्यस्य' मन्त्र के साथ तीन अन्य अश्वों को भी इसी रथ में जोड़ा जाता था<sup>4</sup>। छाँड़े और रथ दोनों ही स्वर्णालंकारों से युक्त होते थे। यजमान और अश्व इस रथ में बैठ कर सरौवर तक जाते थे। जब छाँड़े जलों में ही छाँड़े होते थे उस समय यजमान 'यद्वाता अपो अग्नीगन् प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्' इत्यादि मंत्र को बोलता था<sup>5</sup>। सरौवर से रथ को यज्ञस्थल पर वापस ले आने के बाद महिषी बाबाता और परिवृत्ता यज्ञीय अश्व के क्रमशः पूर्व, मध्य और अपर काय को घी से लेपती थी<sup>6</sup>। तदनन्तर ये तीनों ही क्रमशः 'गूः' 'गुवः' और 'स्वः' का उच्चारण करते हुए सौ-सौ (कुल तीन सौ) स्वर्णगुटिकाओं को अश्व के केसर और पूँछ के बालों में इस प्रकार बाँधाती थी कि वे गिरें न<sup>7</sup>। अश्व प्रधामसुत्या की रात्रि में सम्पन्न हुए 'अन्नहोम' से अवशिष्ट अन्न को यज्ञीय अश्व को खिलाता था<sup>8</sup>। अग्निष्ठयूप में इस का

1. का. श्रौ. सू. 20/5/3; श. ब्रा. 13/5/1/16

2. वही 20/5/7; श. ब्रा. 13/5/1/16

3. श. ब्रा. 13/5/1/17; का. श्रौ. सू. 20/5/9

4. का. श्रौ. सू. 20/5/10, 11.

5. का. श्रौ. सू. 20/5/12, 13, 14.

6. वही 20/5/15.

7. श. ब्रा. 13/2/6/8; का. श्रौ. सू. 20/5/15

8. श. ब्रा. वही; का. श्रौ. सू. 20/5/18, 19.

आलभान होता था । 'अद्भ्यस्त्वा' एवं 'वायुष्ट्वा' इत्यादि पांच मंत्रों से इसका प्रोक्षाण होता था । 'अपां पेरु' एवं 'अग्निः पशुरासीत्' 'वायुः पशुरासीत्' 'सूर्यः पशुरासीत्' इत्यादि चार मंत्रों से इस के मुखा में जल (प्रोक्षाणी) डाला जाता था ।<sup>2</sup> सबसे नीचे कुशाये बिछाकर, उस के ऊपर वास, और उसके भी ऊपर अधिवास बिछाकर एवं अधिवास के ऊपर स्वर्ण रखा कर इस का सज्जन (बधा) कर दिया जाता था ।<sup>3</sup> 'स्वाहा देवेभ्यः' 'देवेभ्यः स्वाहा' स्म में दो आहुति देकर 'प्राणाय स्वाहा' 'अपानाय स्वाहा' 'व्यानाय स्वाहा' से तीन आहुतियाँ दी जाती थीं ।<sup>4</sup>

राजा की चारों पत्नियाँ मृत अश्व के प्राणशोधन के लिये हाथों में जलपात्र लेकर 'नमस्तैमाता' और 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके' इत्यादि दो मंत्रों का उच्चारण करती थीं ।<sup>5</sup> हाथों में पात्रों को लिये हुए ही वे तीनों क्रमशः 'गणानाम्त्वा' 'प्रियाणाम्त्वा' और 'निधीनाम् त्वा' इत्यादि मंत्रों के साथ तीन-तीन परिक्रमायें करती थीं ।<sup>6</sup> इसके अनन्तर मृत अश्व के शरीर को माध्यम बनाकर दो विधियाँ और सम्पन्न की जाती थीं ।<sup>7</sup> इन दोनों के ही अत्यन्त वीभत्स और आज की दृष्टि से अशिष्ट होने के कारण यहाँ उल्लेख किया जाना आवश्यक नहीं समझा

1. श. भा. 13/2/7/1; का. ओ. सू. 20/6/7.

2. वही 13/2/7/13; का. ओ. सू. 20/6/8.

3. वही 13/2/8/1, का. ओ. सू. 20/6/10.

4. श. भा. 13/2/8/2; का. ओ. सू. 20/6/11.

5. वही 13/2/8/3; का. ओ. सू. 20/6/12.

6. वही 13/2/8/4, का. ओ. सू. 20/6/13.

7. वही 13/2/8/5; 13/2/9/1-6; का. ओ. सू. 20/6/14-20.

जा रहा है ।

1- शतपथब्राह्मण और कात्यायनश्रौतसूत्र- दोनों ही में विधान है कि मृत अश्व के साथ महिषी का शयन कराया जाय और शयन कराके उसे अधिवास से ढक दिया जाय । अध्वर्यु 'वृषा वाजी' (वा. सं 23/20) मंत्र का उच्चारण करे और महिषी अपने गुप्तांग में अश्वशिरः को प्रविष्ट करे। एक दूसरी विधि के अन्तर्गत मृत अश्व के चारों ओर बैठकर ~~चत्विर्~~ चत्विर् कुमारी, महिषी आदि चारों पत्नियाँ और उनकी अनुचरियों के साथ 'यकासकौ' (वा. सं 23/22-31) आदि मंत्रों से, जिन का अर्थ अत्यन्त अश्लील है, वार्तालाप करें ।

उक्त दोनों विधियाँ निश्चित ही अत्यन्त वीभत्स हैं । कोई भी सम्यक् व्यक्ति इनके व्यवहार को उचित नहीं कह सकता । किन्तु विडम्बना यह है कि ये दोनों ही अश्वमेधा में व्यवहृत होती थीं । वाजसनेयिसंहिता, शतपथब्राह्मण, कात्यायनश्रौतसूत्र, वाल्मीकिरामायण और महाभारत इस बात के प्रमाण हैं कि ये अश्वमेधा में प्रयोग में लायी जाती थीं । कुछ विद्वानों ने, जिन में दयानन्द सरस्वती प्रमुखा हैं, इन्हें अनुचित बताने के उद्योग में संहिता में प्रयुक्त पदों का अर्थ ही बदल डालने का पुरजोर प्रयास किया है, उबट एवं महीधर को हृदय से कोसा है और श्रौतसूत्र को स्वीकार न करने की बात कही है (अ० भा० भू०, प्रतिज्ञाविषय पृ० 382)। किन्तु उनका यह सब उद्योग निराधार है। मंत्रों में प्रयुक्त पदों से स्पष्ट रूप में वह अर्थ निकलता है जिसकी ओर श्रौतसूत्र, शतपथ और इनके भाष्यकारों ने संकेत किया है। ब्राह्मण इस सन्दर्भ में सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण उपस्थापित करता है । अतः श्रौतसूत्र को प्रामाणिक न मानने या महीधर आदि को अभाद्रशब्दों में कोसने से कार्य पूरा नहीं हो जाता । श्रीयुक्त दयानन्द सरस्वती के अनुसार इन्हें राष्ट्र-परक अर्थ को देने वाले मंत्र मान भी लें, जिसकी ओर संकेत स्वयं शतपथ ने भी किया है (श. ब्रा. 13/2/8; 9;), तो भी विधि के रूप में अश्वमेधा में प्रयुक्त होने पर दोष तो बना ही रह जाता है। अतः इनके

अश्व को एक वर्षा के लिये भ्रमणार्थ छोड़े जाने से लेकर उस के संज्ञपन और प्राणों की शान्ति तक की विधियाँ एवं संस्कार अनेक हैं । भ्रमण के लिये छोड़े गये या भ्रमण से वापस आये, जीवित या मरे हुए अश्व को माध्यम बनाकर सम्पन्न की जाने वाली ये विधियाँ और संस्कार आदि एक बहुत ही व्यापक और उतने ही उलझे हुए रूप में अश्व को उपस्थित करते हैं । इन विधियों और संस्कारों में 'कुल' सीधे-सीधे अश्व की शारीरिक सुरक्षा, रोगों से मुक्ति, व्यवधान रहित संचरण आदि और बलिदान से सम्बद्ध हैं । इस वर्ग की विधियाँ आदि में हम विशेष रूप से सौ वृद्धा अश्वों के साथ इस के छोड़े जाने को, चार सौ रक्षाओं से इस की सदैव रक्षा की जाने को, सरोवर आदि अज्ञात जलों में इसे न जाने देने को, वडवासहवास से इसे दूर रखाने को, साक्षित्री-दृष्टियों को, साक्षित्री-दृष्टियों के बाद निश्चित उद्देश्य से पृथक्-पृथक् की जाने वाली दृष्टियों को, रात्रि में सम्पन्न किये जाने वाले 'धृतिहोम' को और वास, अधिवास एवं स्वर्ण पर अश्व के संज्ञपन को रखा सकते हैं । साक्षित्री-दृष्टियों के सन्दर्भ में ब्रह्मण का स्पष्ट कथन है: 'यत्सावित्र्यो भावन्ति अश्वस्यै वानु-वित्तये ।' वह धृति-दृष्टियों को सीधे अश्व का बन्धान-बन्धान-

..... अश्वमेधा की विधियों में पिराये हुए अर्धा को स्वीकार करना ही पड़ेगा । लगता ऐसा है कि उक्त दोनों विधियाँ या तो विशुद्ध प्रतीकात्मक-रूप में की जाती होंगी या फिर अश्वमेधा में इनका जुड़ना वर्षाभार के अम से चूर-चूर दृष्टिजों और उपस्थित विशाल जनसम्मर्द के हास्य के निमित्त होगा । काम्पीत-वासिनी सुभाद्रिका (वा. सं 23/18) अभिमेधिकावाक् (श. ब्रा. 13/5/2/9) और सुरभिमतिसूक् (वा. सं 23/32) को इन्हें प्रतीकात्मक मानने के पक्ष में और बड़ी भीड़ की उपस्थिति, मंत्रों के संवादात्मकस्वरूप एवं अनेक वक्ताओं की स्थिति को इन्हें हास्य उत्पादक विधि मानने के पक्ष में उद्धृत किया जा सकता है ।

1- श. ब्रा. 13/1/4/2 .

स्थान-कहता है: 'एता वा अश्वस्य बन्धानम् ताभिरेवेन बध्नाति । तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धानभागच्छति ।xxx । तस्मादश्वो बन्धानं न जहाति ।<sup>1</sup>

उपर उल्लिखित विधियाँ और संस्कार आदि में कुछ ऐसे हैं जो अश्व के माध्यम से अश्वमेध के यजमान के 'सार्वभौम सम्राट' होने को प्रतीकायित करने के लिये हैं । इस वर्ग की विधियाँ आदि में हम विशेष रूप से चतुरक्षा कुत्ते के कंधा को, अश्व के नीचे से उस के बहाये जाने को, पारिप्लव आख्यान को, यज्ञीय अश्व को अलंकृत रथा में जोड़े जाने और राजा एवं अध्वर्यु के इस में बैठने को एवं महिषी आदि के द्वारा अश्व के कंसार और पूँछ के बालों में स्वर्णगुटिकाओं के पिरोने आदि को रखा सकते हैं । चतुरक्षा काला श्वान बुराई और धूर्तता का प्रतीक है । (वैश्या) में शूद्र से उत्पन्न की गयी संतान के द्वारा वर्तमान के जत्ताद के द्वारा उस का सिद्धक मूसल से मारा जाना और मार दिये जाने के बाद भी अश्व के पैरों के नीचे से उसका बहाया जाना निश्चित ही राजसत्ता के द्वारा राज्य में धूर्तों को समाप्त कर दिये जाने और उन के मृत शरीरों की भी कुगति किये जाने को प्रकट करता है । पारिप्लव आख्यान यजमान के 'चक्रवर्ती सम्राट' होने को प्रजा में दूर-दूर तक पहुँचा देने के लिये हो सकता है । पारिप्लव में प्रतिदिन एक नये राजा से सम्बन्धित आख्यान का जाना, इस को सुनने वालों को विशेष जाति, वर्ग, क्रिया-क्लाप और पेशों से जुड़ा होना और प्रत्येक दिन एक नये वेद-ज्ञान के ग्रन्थ-का पढ़ा जाना<sup>2</sup> प्रकट करता है कि इस यज्ञ का यजमान कोई सार्वभौम सम्राट है: पृथिवी के सभी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इसके वशवर्ती हैं । पारिप्लव में 'आख्यान' के कह दिये जाने के बाद वीणागायक जो स्वयंकृत गाथाओं का गान करते हैं

1. वही 13/1/6/2 .

2. श. भा. 13/4/3/1-15 .

ब्राह्मण उनका राष्ट्र की श्री की रक्षा के लिये गाया जाना आवश्यक बताता है<sup>1</sup>। स्वर्ण भी वैभव का ही प्रतीक है। चाहे यह अश्व के अलंकरणों के रूप में प्रयुक्त हो या रथ में, बात एक ही है। अतः उक्त सभी विधियाँ जो हम यजमान के वैभवपूर्ण होने को प्रकट करने के लिये आयी हुई कह सकते हैं।

अश्व के माध्यम से सम्पन्न की जाने वाली इन विधियाँ आदि में कुछ ऐसी हैं जो यजमान के सार्वभौम सम्राट होने से ऊपर की स्थािति—देवत्व—को प्रतीकायित करने के लिये हैं। संहिताओं में राजा का स्वयं देवशक्ति से युक्त रहना भी है। 'राजास्य' में देवों के द्वारा ही प्राणियों का शासन किये जाने का भाव आयों में राजसत्ता के उत्पन्न होने का एक प्रधान कारण था<sup>2</sup>। राजा को इन्द्र का रूप, वस्त्र का रूप बताने वाले वाक्यों की भी कमी नहीं है<sup>3</sup>। राजा को अनंत दैवी शक्तियों से सम्पन्न होकर उत्पन्न होने वाला बताने वाले वाक्य भी प्रभूत मात्रा में मिलते हैं<sup>4</sup>। प्रस्तुत में अश्व को जलों के मध्य लेजाकर प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वायु, विश्वेदेवा और सर्वदेवा के मंत्रों से प्रोक्षणा करने की, अग्नि के पास छाड़ा करके उसे निमित्त कर अग्नि,

1. वही, 13/1/5/1-5.

2. 'अराजे हि लोकैऽस्मिन् सर्वतां विद्रुते भयात्  
रक्षाधर्मस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥' मनु 7/3

3. 'इन्द्रानितयमार्काणामग्नेश्च वस्त्रास्य च।

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतीः॥' वही 7/4.

4. 'सोऽग्निर्भावति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।

स कुवेरः स वस्त्राः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ वही 7/7.

सोम आदि दश देवों के लिये एक हजार बार या इस से भी अधिक संख्या में आहुति देने की, महिषी आदि के द्वारा अश्व के शरीर को धृतलिप्त किये जाने की और रात्रिभर समस्त देवों के लिये सम्पादित किये गये अन्नहोम से अवशिष्ट धाना, लाजा आदि को अश्व की छाँलाये जाने की हम अश्व से प्रतीकायित यजमान में देवीशक्तियों की स्थािति या सीधे उस के देवत्व को प्रकट करने के लिये व्यवहृत हुआ कह सकते हैं ।

अश्व की निमित्त कर सम्पन्न की गयीं उक्त विधियाँ और संस्कार आदि में कुछ ऐसे हैं जो यजमान की देवत्व से भी उमर की स्थािति- 'ईश्वर-स्म' होने की प्रकट करने के लिये हैं । अश्व और अश्व के माध्यम से यजमान को 'प्रजापति-स्म' प्रतिपादित करने वाली विधियाँ आदि को हम इस वर्ग-विशेष की विधियों के रूप में रखा सकते हैं । दाया की बनी बारह या तेरह हाथ लम्बी रस्सी अपनी बारह और तेरह की संख्या से संवत्सर के सामान्य-स्थिति में बारह और विशेष-स्थिति में तेरह महीनों की प्रकट करती हुई, अभिधा<sup>1</sup>मुड़ा से 'प्रजापति' या 'प्राजापत्य' कहे गये अश्व के गले में इसलिये डाली जाती है कि प्रजापति संवत्सर-स्म है<sup>2</sup> संवत्सर उस की महिमा में स्थित है; वह संवत्सर-स्म देश और काल का नियामक है । संवत्सर-स्म 'रशना' की संवत्सर के भी नियामक-सूर्यदेव के आदेश से, अश्विनीकुमारों की बाहुओं से और पूषन्-देव के हाथों से ग्रहण करके<sup>3</sup> अभिधा-स्म<sup>3</sup> 'भुवन-स्म' 'यन्ता' और 'धात्ता-स्म' अश्व के गले में डालना और इसे अनन्त विस्तार-युक्त एवं सर्वहितनिरत अग्नि के पास पहुँचाने का कहना<sup>4</sup>, निश्चित ही अश्व के माध्यम से यजमान के अपने

1. श. अ. 13/1/1/1; 13/1/2/3; 13/3/3/4;

2. वही 13/4/4/11; 13/5/1/15;

3. बा. सं. 22/1 .

4. वही 22/3 .

पार्थिवत्व का परित्याग कर स्वस्वस्म हो जाने, आत्मस्म हो जाने को प्रकट करता है। अश्व की पूँछ का स्पर्श कर 'बहिष्पवमान' के लिये प्रवृत्त होना, अश्व की अतिशूद्र एवं रहस्यमय मंत्रों से स्तुति करना, अश्व का प्रोक्षाणा करना और इसे अग्नि को पशु बताने वाले, वायु को पशु बताने वाले, सूर्य को पशु बताने वाले मंत्रों के उच्चारण पूर्वक प्रोक्षाणी का पिताया जाना<sup>1</sup>, आदि अश्व के कुछ ऐसे संस्कार हैं जो अश्वमेधा के अश्व को और उस के साथ-साथ यजमान को भी आदि-सत्ता के स्म में प्रतीकायित करने के निमित्त व्यवहृत हुए हो सकते हैं।

अल्हेनवर्ग का अश्वमेधा के अश्व के सन्दर्भ में कहना है कि प्रजापति की अपेक्षा इन्द्र के साथ इसका सम्बन्ध पुराना है। विशेष-रूप से इस लिये कि इन्द्र कृत्रहन् है और अश्वमेधा का सम्बन्ध राजा के युद्ध और विजयों से है। अश्व का चयन करते समय जादुई प्रभाव महत्वपूर्ण रहता है। अश्व के देवों के निमित्त बलिदान करने पर यह प्रभाव यजमान पर भी आता है वह अश्व की गति और शक्ति से सम्पन्न होता है। अश्व के नीचे काता कुत्ता इसलिये मारा जाता है कि अश्व से प्रेतात्मायें दूर रहें। काता कुत्ता बुराई का प्रतिनिधि<sup>2</sup> है, आदि।

अश्वमेधा के अश्व के सन्दर्भ में प्रो० इंगतिंग के विचार हैं कि आर्यों में मानव की बलि देव-अर्चन के लिये सर्वश्रेष्ठ उपहार था। मानव की बलिदेना अव्यावहारिक था। पशुओं में अश्व सर्वश्रेष्ठ है। गुणों और बुद्धिमत्ता में वह मनुष्यों की तुलना में दिवतीय श्रेणी का है। मानव का अश्व से अच्छा अपवाद कोई और हो नहीं सकता।

1. वही-22/17.

2. देवों, कीटा, तैत्तिरीय-संहिता, भूमिका भाग.



इसीलिये बड़े और महान् अवसरों पर अश्व की वलि उचित समझी गयी<sup>1</sup>।

प्रजापति का अश्व से सम्बन्ध इसलिये है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों की दृष्टि में अश्वमेधा प्रजापति है। यही कारण है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/9/17/4) में अश्व को 'प्रजापति का स्म' और 'प्रजापति के लिये सबसे अधिक प्रिय' कहा गया है। किन्तु यथार्थ यह है कि अश्व का वसुधादेव के साथ सम्बन्ध प्रजापति के साथ उस के सम्बन्ध से भी पुराना है; अश्व मूल रूप में वसुधा से ही सम्बद्ध था। केवल वही नहीं, जितने भी एकशफपशु हैं वे वसुधा के हैं (वा. सं. 24/30; श. ब्रा. 8/4/3/13)<sup>2</sup>। अश्व का वसुधा से सम्बद्ध होना इसलिये भी उचित है क्योंकि वसुधा, जो स्वर्ग का राजा है और आचार एवं नीति का व्यवस्थापक है, दुनिया के राजाओं का दैवीय प्रतिनिधि है। वसुधादेव के अश्व को समस्त अन्तरिक्ष को पारकर गति करने वाला, अत्यन्तवेगवान् और प्रकाशवान् कहा गया है। ऋग्वेद के मंत्रों (ऋ. 1/163) में सूर्य को एक ऐसे ही अश्व के रूप में उपस्थित किया गया है। अश्वमेधा की द्वितीयसुत्या में अश्व को घुस के पास लेजाकर होता इन्हीं मंत्रों को बोलता है। अश्व के कथास्थल पर भी इन में से कुछ मंत्र पढ़े जाते हैं। इन मन्त्रों में द्युलोक को एक महान् सागर के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु वसुधा को जलों का देवता कहा गया है। अश्व के जलों से उत्पन्न होने के उल्लेख भी मिलते हैं। अतः द्युलोक के जलों से उत्पन्न वसुधादेव का अश्व सूर्य है। अश्वमेधा का अश्व अनेक बार<sup>3</sup> आदित्य कहे जाने के कारण सूर्य रूप से वसुधा के साथ सम्बद्ध है।

1. इगर्तिग, शतपथ ब्राह्मण, भाग-5, भूमिका भाग, पृ० 18

2. वही, पृ० 19.

3. इगर्तिग, शतपथ ब्राह्मण, भाग-5, भू० भाग, पृ० 20.

उनका कहना है कि यदि यह बात सही है कि अश्वमेधा अति प्राचीन काल में आर्यों को ज्ञात था, उन में प्रचलित था, तो इस में भी कोई संदेह नहीं रह जाता कि अश्वमेधा में अश्व मुख्यतः से वस्था-देव के लिये ही समर्पित किया जाता था। तैत्तिरीय-संहिता (2/3/12/1) में प्रजापति के वस्था के पास अश्व को लेकर जाने का उल्लेख है। हिल्लेब्रान्ट ने इसे एक दूसरे ही रूप में समझ कर इसका बदला हुआ अर्थ किया है। इस अंश का सही अर्थ जो कुछ भी मानें, किन्तु इस से इतना अवश्य स्पष्ट है कि आगे चल कर अश्व के अधिष्ठातृदेवों में परिवर्तन हुआ। यह बहुत कुछ संभाव है कि इस स्वामि-परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही अश्व बाद में प्रजापति से सम्बद्ध हुआ हो<sup>2</sup>।

अश्वमेधा के अश्व के सन्दर्भ में कीटा महोदय का मत है कि ओल्डेनवर्ग और इगलिंग के विचार एक-दूसरे के पूरक हैं<sup>1</sup> एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों की अश्वमेधा सम्बन्धी दृष्टि को पूरी तरह स्पष्ट करते हैं<sup>3</sup>। उन का कहना है कि अश्वमेधा के साथ प्रजापति का सम्बन्ध परवर्ती कर्मकाण्ड के परिणाम-स्वरूप है<sup>4</sup>। उन का प्रतिपादन है कि ओल्डेनवर्ग और वोन नेजेल्स ही अधिक सही हैं। अश्व को मूलतः से इन्द्र के साथ सम्बद्ध मानना ही उचित है। वैदिक साहित्य में देवराट् इन्द्र अश्वों के सहयोग से असुरों का वधा करने वाले देव के रूप में चित्रित हैं। अश्वमेधा का प्रजमान भी रहस्यमय ढंग से अश्व के साथ जुड़कर अपने

1. वही

2. वही, पृ० 24.

3. कीटा, तैत्तिरीय-संहिता, भूमिका भाग

4. वही.

शत्रुओं का संहार करना चाहता है । इन्द्र का अश्व 'वज्र' है । वह वज्र से वृत्र को मारता है । अश्वमेधा का अश्व यजमान के शत्रुओं का संहार करने में सहायगी है । उसे वज्र कहा भी गया है । अतः अश्वमेधा के अश्व का सम्बन्ध मुख्यतः से इन्द्र के साथ है । वरुण इन्द्र के बाद आते हैं और प्रजापति सबसे अन्त में<sup>1</sup> । उन का यह भी कहना है कि द्वापत्युग ने सूर्य को वरुण का अश्व बताया है । किन्तु यह सम्बन्ध कृत्रिम है । इस की संभावना कम<sup>2</sup> ही है कि प्राचीन धारणाएँ इस सम्बन्ध को वरीयता दे सकें ।

अश्वमेधा के अश्व के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये पार्श्वात्य विद्वानों के उक्त सभी मत मुख्यतः से इस बात पर बल अधिक देते हुए प्रतीत हो रहे हैं कि अश्व मूलतः से किस देवता से सम्बद्ध है । उक्त मतों की एक अन्य सामान्य विशेषता यह भी है कि इन में यजमान की लौकिक उपलब्धियों को वरीयता अधिक देते हुए ही अश्व के भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ मूलतः से सम्बद्ध होने पर विचार किया गया है । किन्तु 'अश्व मूलतः से किस देवता से सम्बद्ध है'—यह प्रश्न उतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि अश्व स्वयम् में क्या है ? अश्वमेधा में यजमान के किस अभिप्राय को यह मुख्यतः से व्यक्त करता है ? अश्वमेधा के अश्व के सन्दर्भ में उक्त प्रश्न निश्चित ही आत्मेनवर्ग, द्वापत्युग आदि के सामने नहीं आते ; क्योंकि वे अश्व को 'सर्वश्रेष्ठपशु' 'गुणों में मनुष्यों के बाद दूसरा' से अधिक और कुछ मानते ही नहीं आते । जहाँ तक अश्व के 'मूलतः से किस देवविशेष से सम्बद्ध होने का प्रश्न है—इस का समाधान

1. वही .

2. वही

संभावतः कभी न हो सके । क्योंकि इगलिंग आदि ने 'वस्य' और 'इन्द्र' के साथ मूलस्म में अश्व के सम्बन्ध होने के पक्षों को तो उजागर कर ही दिया है, कम से कम सूर्य, वायु, अग्नि और प्रजापति ऐसे देवता अवश्य हैं जिन के साथ अश्व के मूलस्म में सम्बन्ध होने को प्रमाणित किया जा सकता है । किन्तु प्रस्तुत स्थल में उद्योग इस दिशा ही में न होकर इस तथ्य को स्पष्ट करने में है कि अश्वमेधा का अश्व अपने में क्या है । यजमान लौकिक सुखा-समृद्धि से अधिक और क्या वस्तु अश्व के बलिदान से प्राप्त करना चाहता है ।

अश्व के सन्दर्भ में, उक्त तथ्यों को स्पष्ट करने की दिशा में अगर वर्णित अश्व सम्बन्धी विधि आदि के अतिरिक्त कोई अन्य सहायक हो सकते हैं तो वे हैं अश्व के यज्ञ के निमित्त चुने जाने का आधार, अश्व की उत्पत्तिसूचक वाक्य, सीधे अश्वमेधा के अश्व को लक्ष्य कर के कहे गये सहिता, ब्रह्मण और उपनिषदों के वाक्य ।

अश्वमेधा के लिये अश्व का चयन करते समय जिन लक्षणों और गुणों को ध्यान में रखने का विधान है वे हैं अश्व का सर्वस्म होना, वेगवान् होना, गौसहस्रार्ह होना, पूर्व्य होना, दक्षिणधुरि-अप्रतिधुर होना । ब्रह्मण 'सर्वस्म' अश्व के न मिलने पर त्रिस्म अश्व को चयन करने के पक्ष में है और इस को 'स्मसमृद्धा' कहता है । किन्तु उसका कहना है कि 'त्रिस्म' या 'स्मसमृद्धा' वह अश्व ही यज्ञ के लिये चुना जाय जो पूर्वार्ध में कृष्ण, अपरार्ध में शुक्ल और आगे कृत्तिका चिह्न से युक्त हो<sup>2</sup> । 'सर्वस्म' और 'त्रिस्म' या 'स्मसमृद्धा' अश्व के न मिलने पर 'द्विस्म' अश्व का भी यज्ञ के लिये चयन किया जा सकता है । इसका एक

1. 'यस्मिन् सर्वाणि स्माणि भावन्ति । यो वा ज्वसमृद्धा ।

सहस्रार्हम् । पूर्व्यम् । यो दक्षिणाया धुर्यप्रतिधुरः ।'

श. ब्र. 13/4/2/1 .

2. वही 13/4/2/4 .

अन्यनाम 'कृष्णसारङ्ग' है। यह श्वेत-वर्ण का होता है और इसके ऊपर काले धाब्बे होते हैं<sup>1</sup>।

ब्राह्मण 'सर्वस्व' अश्व को ही अश्वमेधा के लिये चुनने का पक्षधार इसलिये है<sup>2</sup> क्योंकि उसकी दृष्टि में स्व ही सब कुछ है और अश्वमेधा 'सबकुछ' ही है<sup>3</sup> अतः वह सबकुछ-अश्वमेधा के लिये सर्वस्व अश्व को ही उपयुक्त समझता है। वह जब समृद्ध (वेगवान्) अश्व चुनने के पक्ष में इसलिये है कि 'जब' वीर्य है<sup>4</sup>, शक्ति है। वह गोसहस्रार्ह अश्व इसलिये चुनना चाहता है क्योंकि उसकी दृष्टि में 'सहस्र' सब कुछ है अश्वमेधा सबकुछ है<sup>5</sup> वह प्रथम-आयु (युवावस्था) का ही अश्व इसलिये चुनना चाहता है क्योंकि प्रथम-आयु अपरिमित वीर्य को धारण करती है<sup>6</sup>। दक्षिणाधुरि-अप्रतिधुर अश्व को ही वह इसलिये चुनना चाहता है कि 'एष वा एषा'। य एष तपति न वा एतं कश्चन प्रतिमतिः<sup>7</sup>। अर्थात् अश्व सामने तपता हुआ सूर्य है। कोई दूसरा इस का उपमान नहीं है। इस को प्राप्त करने के लिये ही दक्षिणाधुरि-अप्रतिधुर अश्व चुना जाता है।

ब्राह्मण अश्वमेधा के अश्व में जिन गुणों को रखना चाहता है वे सभी प्रमुखात्म से सूर्य के गुण-धर्मों के साथ निष्कट की समता रखाते हैं। सूर्य ही यथार्थ में सर्वस्व है क्योंकि कृष्ण, शुक्ल, रक्त,

1. वही 13/4/2/3

2. कात्यायन मुह्यस्व से 'त्रिस्व' अश्व को चुने जाने के पक्ष में लगते हैं।

देवी का० श्री० सू० 20/1/26-24

3. 'सर्वं वै स्व'। सर्वमश्वमेधाः। 'श. ब्रा. 13/4/2/2

4. 'वीर्यं वै जब'। वीर्यस्याप्त्यै। 'वही

5. 'सर्वं वै सहस्र'। सर्वमश्वमेधाः। 'वही

6. 'एष वा अपरिमितं वीर्यमभिवर्धति यत् पूर्व्यः'। 'वही

7. श. ब्रा. 13/4/2/2.

पीत, हरित आदि सातों रंग (वर्ण) सूर्य की किरणों में ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं। अश्व का त्रिस्प होना भी सूर्य की ही व्याख्या है। रात्रि सूर्यस्प अश्व का कृष्णवर्ण का पूर्वभाग है, दिन उसका शुक्लवर्ण का अपरभाग है। श्वेत कृत्रिका वह स्वयम् है। अश्व का 'द्विस्प' होना भी सूर्य की ही व्याख्या है। काले एवं श्वेत रात्रि और दिन ही उसके दो रंग हैं। सूर्य 'जबसमृद्धा' भी है, क्योंकि यह बहुत धाँड़े समय में समस्त अंतरिक्ष को पार कर जाता है। वह सहस्ररश्मि है अतः 'सहस्राँह' भी है। वह 'पूर्व' है क्योंकि पूर्व में उदित होता है। वही सचचे अर्धाँ में दक्षिणाधुरि-अप्रतिधुर है। अश्वमेधा के अश्व की अंतरिक्ष में देदीप्यमान आदित्यमण्डल के साथ इतनी निकट की समता प्रकट करती है कि सूर्य के साथ इसका निकट का सम्बन्ध है और यजमान भी संभावतः सूर्य से सम्बद्ध होने के लिये ही इस अश्व को एवं समस्त अश्वमेधा को चुनता है। अतः <sup>जानने की</sup> इच्छा होती है कि वस्तुतः सूर्य क्या है? सहिता आदि उसे एक देवमात्र मानती हैं कि उस से कुछ अधिक?

सूर्य का देवस्प निर्विवाद है। किन्तु ब्रह्मतत्त्व या आदिसत्ता की व्याख्या में सूर्य एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक का कार्य करते हैं; विशेष रूप से उपनिषदों में। आदित्य के माध्यम से ब्रह्म की व्याख्या उपस्थित करना वैदिक ऋषियों का स्वभाव सा लगता है। ऋग्वेद के जिन मंत्रों (ऋ. 1/162) में सूर्य का रहस्यमय ढंग से वर्णन किया गया है वास्तव में वे मंत्र सूर्य-स्प में आदिसत्ता का वर्णन ही हैं। इधर हम यह भी पाते हैं कि ब्राह्मणग्रन्था अश्व को जलों से उत्पन्न होने वाला बताते हैं। जलों से उत्पन्न कहा गया अश्व प्रातः काल में जलों में से उभरते हुए सूर्य का आलंकारिक वर्णन भी हो सकता है। ऋग्वेद के एक उल्लेख

-----

के अनुसार अश्व को वसुओं ने सूर्य से बनाया है<sup>1</sup>। एक अन्य उल्लेख के अनुसार अश्व प्रजापति के नेत्र<sup>2</sup> से उत्पन्न हुआ है। अश्व को प्रजापति के नेत्र से उत्पन्न होने वाला कहना भी वास्तव में उसे सूर्य से उत्पन्न होने वाला मानना ही है क्योंकि प्रजापति का नेत्र सूर्य ही बन सकता है, कोई अन्य नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त वैदिक साहित्य में आदिसत्ता की व्याख्या के श्रेष्ठ प्रतीक-सूर्य से अश्व सम्बद्ध है। स्वयं सूर्य को अश्व कहा जाना (ऋ. 7/77/3) इसमें सबसे बड़ा प्रमाण है। वह सूर्य का प्रतीक है और सूर्य के माध्यम से आदिसत्ता की व्याख्या कर पाने में सक्षम है। यजमान का अश्वमेध में इसी को चुनने का प्रधान कारण इसके माध्यम से आदिसत्ता को समझ लेना और कृतकृत्य हो जाना है; क्योंकि अश्वमेध का फल सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति है<sup>3</sup> और सर्वकाम या आप्तकाम वही ही सकता है जो सृष्टि के नियामक को सही रूप में समझ सके।

अश्वमेध का अश्व उपर्युक्त प्रकार से सूर्य का प्रतीक बन कर सृष्टि नियामक-परमात्मा की स्वस्व-व्याख्या तो करता ही है ब्राह्मण स्वयम् उस के शरीर में समस्त सृष्टि की स्थिति बताकर उसे साक्षात् सृष्टिनियामक प्रजापति के रूप में भी उपस्थात करता है। उसका कहना है: उषा मेध्य अश्व का शिर है। सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि छुला हुआ मुँह है और सवत्सर

1. 'सूरादश्वं वसवो निरतष्टत्' ऋ. 1/163/2.

2. 'प्रजापतैर्वा एषाऽक्षणाः समभावत्।' श. भा. 13/4/2/3

3. (क) श. भा. 13/4/1/1, का. श्री. सू. 20/1/1.

(ख) 'सर्वकामस्येति मुमुक्षाः' क0 भा 0, 20/1/1.

यज्ञीय अश्व का आत्मा है । द्युलोक उस की पीठ है, अन्तरिक्षा उदर है, पृथिवी पैर रखने का स्थान है, दिशाये पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाये पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्धमास सन्धि-स्थान हैं, दिन और रात इस के पैर हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं। XXXX नदियाँ नाड़ी हैं । XXXX ओषधि और वनस्पतियाँ लोम हैं, XXXX इसका जमुहार्द लेना बिजली का चमकना है और शरीर हिलाना मेधा का गर्जन है । यह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है, इसकी वाणी ही वाणी है ।

मेध्य अश्व के शरीर में समस्त ब्रह्माण्ड की उक्त कल्पना इसे रक्त, मांस, मज्जा आदि का पिण्डमात्र या 'सर्वश्रेष्ठपशु' या 'गुणों में मनुष्यों के बाद दूसरा' आदि नहीं रहने देती । मेध्य अश्व में ब्रह्माण्ड की भावना इसे साक्षात् जगत्-स्रष्टा के रूप में उपस्थित करती है । अश्व का उक्त दिव्य-रूप ही उसके यज्ञ के लिये चयन किये जाने का रहस्य है । यजमान इसके माध्यम से अश्वमेधा को सम्पन्न कर इसके दिव्य-रूप को, जो उसका (यजमान का) अपना रूप भी है, समझ लेना चाहता है और इसके फल के रूप में सर्वकाम और आप्तकाम होना चाहता है ।

\*\*\*\*\*  
\*\*\*\*\*



★ तृतीय- अध्याय★  
\*\*\* \*\*

## अश्वमेधा की वेदी एवं यूपों के प्रतीकायित अर्थ

अश्वमेधा 'सोम-सवन याग' होने के साथ-साथ एक ऐसा यज्ञ भी था जिसमें बड़ी संख्या में पशुओं का आलभन<sup>1</sup>, संज्ञपन<sup>2</sup> और अण<sup>3</sup> होता था। आरण्य-पशुओं के आलभन और ग्राम्य-पशुओं के आलभन और संज्ञपन का मुख्य आधार वही यूप और उनसे बनने वाले अन्तराल होते थे वहीं मात्र वेदी के सहयोग से पूर्ण हो सकने वाली अश्वमेधा-आहुतियाँ और वष आहुतियाँ के निमित्त अश्वमेधा में अण-कर्म सम्पादित किया जाता था। अतः हम कह सकते हैं कि 'यूप-स्थापन' और 'वेदी-संवयन' कर्मकाण्ड की दृष्टि से अश्वमेधा में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य थे।

समस्त वैदिक यज्ञों में सामान्य रूप से और अश्वमेधा में विशेष रूप से 'यूप' यज्ञवेदी का अभिन्न अङ्ग बन कर ही व्यवहृत होते थे। यज्ञवेदी से पृथक् यूप-स्थापन का कोई औचित्य न था। अतः अश्वमेधा के 'यूप-स्थापन' पर विचार आरम्भ करने से पहले यूपों की पृष्ठभूमि स्थानीय 'वेदी' पर सभी दृष्टियों से संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

## I

### अश्वमेधा की वेदी

#### वेदी के लिये उपयुक्त स्थान :-

वेदी के लिये स्थान चयन करने के संदर्भ में कात्यायन का कहना है कि अश्वमेधा की वेदी ऐसे स्थान पर होनी चाहिये जहाँ सामने की ओर एक जल-स्थान हो और जिसमें वर्ष भर जल भरा रहता हो। यद्यपि शतपथ का अश्वमेधाक काण्ड ऐसा कोई भी संकेत नहीं

1-वा. सं. अध्याय 24; श. ऋ० 13/2/2/2, 13; 13/2/3; 13/2/4; 13/5/1 / 13/14, 15

2-श. ऋ. 13/2/2/2; 13/2/8/1; का० अ० सू० 20/6/10; 20/7/6,

3-का. अ० सू० 20/7/8, 9, 27; श. ऋ० 13/5/2/10, 11.

4- 'नित्योदकं देव्यजनं पुरस्तात्' का० अ० सू० 20/4/14.

देता जिससे कात्यायन का 'नित्यादक' स्थान पर ही अश्वमेधा की वेदी बनाये जाने का सिद्धान्त पुष्ट होता है; किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों से परवर्ती साहित्य-रामायण और महाभारत में दशरथा, राम और युधिष्ठिर के अश्वमेधा में वेदी के निमित्त जो स्थान चुने गये थे वे निश्चित ही उनके नित्यादक होने का पुष्ट करते हैं। राजा दशरथा के यज्ञ की वेदी तो सरयू के उत्तर तट पर बनाई ही गई थी, राजा राम के यज्ञ की वेदी भी नित्यादक स्थान पर ही थी; क्योंकि रामायण में राम लक्ष्मण को नैमिषारण्य में गोमती के तट पर अश्वमेधा के निमित्त विशाल यज्ञमण्डप बनवाने का आदेश देते हैं<sup>2</sup>। महाभारत में युधिष्ठिर ने भीमसेन को अश्वमेधा यज्ञ की सिद्धि के लिये 'यज्ञ स्थान' ढालने का निर्देश दिया है<sup>3</sup>। इस अश्वमेधा की वेदी के लिये जो स्थान चुना गया था उसे 'शालवय' और 'प्रतोलीयुक्त' और 'सुघाटित' बताया गया है<sup>4</sup>। ये सभी उल्लेख बताते हैं कि युधिष्ठिर के यज्ञ की वेदी भी नित्यादक स्थान के निकट ही बनाई गई होगी। अतः वेदी के लिये नित्यादक स्थान चुनने सम्बन्धी कात्यायन के मत का स्वीकार न करने का कोई भी आधार नहीं है।

### वेदी की माप एवं आकार :

अश्वमेधा की वेदी की माप के सम्दर्भ में कात्यायन का मत है कि 'आद्य-अग्नि' परिमाण, आद्य-अग्नि के द्विगुणित परिमाण, आद्य-अग्नि के त्रिगुणित परिमाण या एकविंशतिविधा परिमाण की होनी चाहिये। कात्यायनकृत शुल्बसूत्र की पंचम काण्डिका में वर्णित<sup>6</sup>

1. 'अथा संवत्सरे पूर्णं ह्यस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे । सरय्वाश्वात्तरे तीरे राज्ञो यज्ञस्य वर्तत । वा० रा० १०१/१४/१०

2. 'यज्ञघाटश्च सुमहान् गोमत्यानैमिषे वने । आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पण्यमनुत्तमम् ॥ वही, ३० का० ९१/१५

3. म० भा० ० अ० ० ८५/९

4. वही ८५/१२.

5. आद्योऽग्निर्द्विगुणस्त्रिगुण एकविंशति विधाया 'का० अ० ० सू० २०/४/१५

6. 'द्विगुण त्रिगुणैकविंशति विधाना क्लृप्तिप्रकारः शुल्बे पंचम्या कंडिकाया कात्यायनेनाभिहितः' । रा० ब्रा०, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, पृ. सं २८७८

विषय सामग्री के आधार पर उक्त कात्यायन सूत्र के स्पष्टीकरण के सम्दर्भ में संक्षिप्तसार टीका का कहना है कि पुरुष शरीर को माप की एक इकाई मानकर, ऐसी साठेसात इकाइयों से जो क्षेत्रफल बनता है वह 'आद्य-अग्नि' प्रकार की वेदी या अश्वमेघ की प्रथम प्रकार की वेदी होगी। उक्त माप के दुगुने ( पन्द्रह पुरुषशरीर माप) और तिगुने ( साठे बर्हस पुरुष शरीर माप) मापों ( जिसे वे वेदी का क्षेत्रफल भी कहते हैं, ) की वेदी अश्वमेघ की क्रमशः दूसरे और तीसरे प्रकार की वेदी होगी। इस स्पष्टीकरण की छाया में अश्वमेघ की चतुर्धा प्रकार की वेदी वह होगी जिसका परिमाण इक्कीस पुरुष माप होगा।

संक्षिप्तसार के इस स्पष्टीकरण से अश्वमेघ की वेदी के विकल्पा से सम्बन्धित मापों की संख्या और माप की इकाई तो पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है किन्तु संक्षिप्तसार का इन विभिन्न मापों को ही वेदी का क्षेत्रफल कहना समझ में नहीं आता।

अश्वमेघ की वेदी के परिमाण के सम्बन्ध में इगतिङ्ग की टिप्पणी है कि वेदी की चारों भुजायें इक्कीस पुरुष माप की होती थी। किन्तु उनके उक्त विचार को सही नहीं माना जा सकता। हमारे सामने बड़ी संख्या में ऐसे प्रमाण हैं जो बताते हैं कि वेदी चतुर्भुजाकार न होकर पर प्लेताकर पूर्वाभिमुख उड़ते हुए विशाल गरुड पक्षी के आकार की होती थी। युधिष्ठिर के अश्वमेघ की वेदी का उल्लेख

1. संसार, का० अ० सू० 20/4/15.

2. श. अ० इगतिङ्ग, भाग 5, पृ० 334 टि० सं० 2

3. (क) श. अ० 6/7/2/7, 8; 7/1/1/19, 20; 8/6/2/12; 8/7/2/9, 10; 10/2/3/11, 12; 11/4/1/16; 6/1/2/36;

(ग) द्रष्टव्य, शत० अ०, इगतिङ्ग, भाग 4, भूमिका भाग, पृ० 21.

करते हुए महाभारत में कहा गया है : 'स सूत्रमपक्षान् त्रिचितस्त्रिकोणान् गच्छाकृतिः<sup>1</sup>। दशरथा के अश्वमेध की वेदी का उल्लेख करते हुए रामायण में कहा गया है : 'गच्छा<sup>2</sup> सूत्रमपक्षान् वै त्रिगुणान् षष्टादशात्मक<sup>3</sup>। इन दोनों वाक्यों में उक्त वेदी का मात्र गच्छाकृति न बताकर स्पष्ट शब्दों में 'त्रिकोण' भी बताया गया है। अतः इक्कीस पुरुषमापों का चतुर्भुजाकार वेदी की एक भुजा का माप कहना उचित नहीं लगता। साढ़े सात, पंद्रह, साढ़े बाईस और इक्कीस पुरुषमाप अश्वमेध की विभिन्न वेदियों की पूर्ण परिधि का उल्लेख रहे ही सकते हैं क्योंकि कात्यायन ने अपने सूत्र में उक्त मापों का न तो वेदी का क्षेत्रफल ही कहा है, जैसा कि संक्षिप्त-सार का मत है, और न वेदी की एक भुजा का माप ही, जैसा कि इगलिङ्ग मानते हैं।

कात्यायन के उपर्युक्त सूत्र में अश्वमेध की वेदी के चार प्रकारों का संयुक्त अभिधान है। कात्यायन स्वयम् इन चार प्रकारों में से किसी भी एक को प्रधान नहीं बताते। कर्क का यहाँ कहना है कि वेदी संबंधी वे विकल्प शारधान्तरों के आधार पर हैं<sup>3</sup>। कर्क के उक्त भाष्य से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि इन चारों में से कौन से प्रकार की वेदी श्रेष्ठ है। दूसरी ओर रामायण और महाभारत में बिन अश्वमेध की वेदियों का उल्लेख आया है वे 'अष्टादशात्मक'<sup>4</sup> या 'अष्टादशकरात्मक'<sup>5</sup> बताई गई हैं। अतः यह प्रश्न बना ही रहता है कि उक्त मापों में से किस माप से बनी वेदी श्रेष्ठ है। यदि स्वयं शतपथ का इस सन्दर्भ में वरीयता

1. म०भा०, अश्व०प० 88/32.

2. वा०श०, वा०का० 14/29.

3. 'शा०शान्तराद्विकल्पः।' क०भा०, का०श्री०सू० 20/4/15.

4. वा०रा०, वा०का० 14/29.

5. म०भा०, अश्व०प० 88/32;

प्रदान की जाय तो उसका निर्णय है :- एकविंशति<sup>1</sup> अग्निर्भवति । शतपथ में उक्त वाक्य एक स्थान पर न आकर अनेक स्थानों पर आता है, साधा ही शतपथ ने 'एकविंश अग्नि' के अतिरिक्त 'द्वादश पुरुष-परिमाण अग्नि' का विकल्प उपस्थापित करके<sup>2</sup> उसको<sup>3</sup> निरस्त करते हुए कहा है कि 'यथा स्थूरीणां यायात् तादृक् तत्'। 'एकविंश अग्नि' के सन्दर्भ में उनका प्रशंसा वाक्य है 'यह अश्वमेधा का सिर है, यह अश्वमेधा का ककुद है । जो एकविंश अग्नि के रहस्य को जान लेता है वह<sup>4</sup> राजाओं में सिर-स्थानीय हो जाता है, ककुद-स्थानीय हो जाता है । अतः मानना होगा कि इक्कीस पुरुष-माप की परिधि वाली वेदी ही अश्वमेधा की श्रेष्ठ वेदी होती थी, इससे भिन्न प्रकार की नहीं ।

वेदी से प्रतीकायित अर्थ :-

'अग्नि-संवन' या वेदी की संरचना ब्राह्मण ग्रन्थों का एक पूर्ण स्वतंत्र एवं मौलिक विषय है । ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञशास्त्र के समस्त दर्शन को वेदी-संवन के अन्तर्गत ही अनुस्यूत करते हुए प्रतीत होते हैं । शतपथ का तो लगभग एक तिहाई भाग वेदी सम्बन्धी उत्प्लेढों पर ही व्यय होता है । अतः 'ब्राह्मणों' में वेदी-शोध का एक स्वतंत्र विषय है । किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में वेदी-संवन प्रधान विषय नहीं है, साधा ही दूसरे स्थानों पर इस पर विविध प्रकार से शोधकार्य भी चल रहे हैं । इसलिये वेदी के सन्दर्भ में यहाँ मात्र इतना और जान लेना ही पर्याप्त होगा कि अश्वमेधा की वेदी का निर्माण वर्ष भर चलता

1. शतपथ 13/3/3/7, 10;

2. वही, 13/3/3/8.

3. वही, 13/3/3/9.

4. वही, 13/3/3/10.

था<sup>1</sup> । इसका निर्माण इष्टकापशु के आलभान से आरम्भ होता था<sup>2</sup> यह अनेक प्रस्तारों से युक्त होती थी । इसके निर्माण के समय अनेक मूल्यवान् धातुओं<sup>3</sup>, रत्नों और स्वर्णनिर्मित अग्निपुरुष की भूमिसात् किया जाता था<sup>4</sup> । परवर्ती काल में अश्वमेध की वेदी का निर्माण स्वर्णनिर्मित ईंटों से भी होने लगा था<sup>5</sup> ।

इसका आकार उड़ते हुए पक्षी के सदृश होता था<sup>6</sup> । संभवतः इसलिये कि पक्षी होकर ही गायत्री भूमण्डल पर स्वर्ग से सोम लाया था<sup>7</sup>; प्रजापति पक्षी के आकार का<sup>8</sup> है; सातों प्राणों ने पक्षी होकर ही प्रजापति को प्राप्त किया था<sup>9</sup>; प्रजापति ने पक्षी रूप होकर देवों का निर्माण किया था<sup>10</sup>; देवता पक्षीरूप होकर ही अमरत्व को प्राप्त हुए थे ।

वेदी को उड़ते हुए पक्षी के आकार की बनाने में एक प्रमुखा कारण यह भी रहा हो सकता है कि सूर्य अग्नि के तीक्ष्ण रूपों में से ही

- 
1. श. ब्रा. 7/4/1/34; श. ब्रा. इगतिह्म, भाग-4, भू० भा०, पृ० 23
  2. वही, 6/2/1/6; का० आ० सू० 16/1/5, 7;
  3. वही, 7/4/1/10, 15; दे०, श. ब्रा० से० वृ० आ० ई० सी०, भाग 4, पृ० 1, पा. हि सं ।
  4. (क) वा. रा०, वा. क. 14/29  
(ग) मं भा., अश्व प. 88/31.
  5. (क) श. ब्रा. 7/1/1/19; 20; 6/1/2/36;  
(ग) वा० रा०, वा० क० 14/29;  
(ग) मं भा., अ० प० 88/32
  6. (क) वा. सं 5/1.  
(ग) श. ब्रा. 3/4/1/12.
  7. वही 6/1/2/36
  8. वही
  9. वही
  10. वही

एक है<sup>1</sup> और वेद ग्रन्थों में सूर्य को अनेक स्थानों पर पक्षी के रूप में आकाश में विवरण करते हुए चित्रित किया गया है।<sup>2</sup> अतः उड़ते हुए पक्षी के आकार की वेदी सूर्य-रूप अग्नि के निरन्तर गतिरूप धर्म का अति सरल भौतिक प्रकाशन है।

वाजसनेयी संहिता का कहना है 'अश्व वासीद् बृहद् वयः'<sup>3</sup>। शतपथ में वाक्य आये हैं 'अश्व प्रजापति का रूप है'<sup>4</sup> 'अश्व सूर्य का रूप है'<sup>5</sup> 'अश्व अग्नि का रूप है'<sup>6</sup> 'अश्व यजमान का रूप है'<sup>7</sup> आदि। ब्राह्मण के अनुसार जब प्रजापति, सूर्य, अग्नि और यजमान अश्व 'पद' का लक्ष्यार्थ, प्रतीकायित अर्थ या व्यङ्ग्यार्थ हो सकते हैं तो संहिता के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि ये सभी किसी न किसी धर्म से पक्षिरूप भी अवश्य हैं। प्रजापति और सूर्य के पक्षिरूप की प्रामाणिकता अब तक हम देखा ही चुके हैं। 'अग्नि' का पक्षिरूप प्रस्तुत वेदी कहा जा सकता है। यजमान को स्वर्ग-लोक और अमरत्व की प्राप्ति के लिये मृत्यु के अनन्तर गति करनी पड़ती है।<sup>8</sup> अतः वह भी 'पक्षी-रूप' कहा जा सकता है।

अश्वमेध की उक्त वेदी को पूर्वभिमुख बनाये जाने का विधान है। पूर्व-दिशा को स्वर्ग का मुखा कहा गया है।<sup>9</sup> अतः अन्त में कहा जा सकता है कि पक्षी के आकार की एवं पूर्वभिमुखा यज्ञवेदी का अश्वमेध के निमित्त विधान करते समय मूल-भाबना यह रही हो सकती है कि यजमान इसके माध्यम से स्वयम् पक्षी-रूप होकर मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग को

1. पृथ्वीलोक का अग्नि भौतिक अग्नि है, अतः दिक्-लोक का अग्नि वायु है और द्युलोक का अग्नि सूर्य है।

2. वा. सं 23/9, 10, 11, 12;

3. वही, 23/12;

4. श. भा. 013/3/3/4, 13/1/1/1, 13/1/2/4; आदि।

5. वही, 13/2/8/15; वा. सं 22/17;

6. वही, 13/2/8/13; वा. सं 23/17;

7. वही, 13/2/2/15, 17;

8. छान्दोग्य 08/6/5; प्रश्नो 05/5; मैत्री 06/22; भ. गो 08/10, 12, 13; आदि।

9. देखा, श. भा., सौ. भा. 04/01/01सी., भाग 4, भू. भा. 01/01/01 21;



गमन करता है और अमरत्व को प्राप्त करता है ।

## II

### अश्वमेध के यूप

यूपों की सम्पूर्ण संख्या :

अश्वमेध के यूपों पर चर्चा आरम्भ करते समय पहला विचार यह उठता है कि उक्त यज्ञ में इन यूपों की सम्पूर्ण संख्या कितनी रहती थी ? इस सन्दर्भ में कात्यायन का निर्णय है कि एकादशिनी पशुओं की भाँति अश्वमेध में यूपों की संख्या इक्कीस होती है ।<sup>1</sup> कात्यायन का उक्त निर्णय उमर से देखाने में बहुत ही उत्साह हुआ लगता है । इसे 'उलझा हुआ' कहना इस दृष्टि से है कि प्राकृत यज्ञ अग्निष्टोम में 'एकादशिनी' नाम से कई देवताओं के निमित्त कुछ विशिष्ट गुण, धर्म युक्त पशु गिनाये गये हैं । अपने अभिधान के अनुसार वही इन की सम्पूर्ण संख्या ग्यारह रही है<sup>2</sup> अश्वमेध में दो 'एकादशिनी बर्गों' को आवश्यक बताकर 'एकादशिनी' नाम से आलभन होने वाले पशुओं की संख्या बाईस मानी गई है । जब प्रक्षीयाग अग्निष्टोम और प्रसङ्ग प्राप्त याग अश्वमेध इन दोनों में आने वाले किसी भी 'एकादशिनी' की सम्पूर्ण पशुसंख्या इक्कीस नहीं होती तब यह कैसे मान लिया जाय कि एकादशिनी पशुओं की भाँति अश्वमेध में यूपों की सम्पूर्ण संख्या इक्कीस रहती है ?

इस उलझाव को स्पष्ट करने की दिशा में कर्क का विचार है कि अश्वमेध के इक्कीस यूपों को 'एकादशिनीवत्' इस लिये कहा जाता है कि उक्त यज्ञ में एकादशिनी नाम से आलभन होने वाले पशुओं का

1. 'एकादशिनीवदेकविंशतिर्युपाः' का० श्रौ० सू० 20/4/16;

2. (क) श० ब्रा० 3/1/3/3, 8 से 12

(ख) का० श्रौ० सू० 8/8/25, 26, 27;

3. 'द्वे त्वेकैतौ एकादशिन्यावालभेत' श० ब्रा० 13/5/1/3;

इन यूपों से सीधा सम्बन्ध है क्योंकि 'द्वेत्वेवैते एकादशिन्यासभौत' यह ब्राह्मण-वाक्य बाईस एकादशिनी पशुओं का इन यूपों में आलभान करने का विधान करता है। कोई एकादशिनी पशुओं की बाईस की संख्या से यूपों की इक्कीस की संख्या में क्रियाव्यत्यास न कर बैठे, उन्हें बाईस न मान ले, इस हेतु से; एवं एकादशिनी पशुओं को यूपों की संख्या से जोड़कर उन्हें पर्यङ्ग्य पशुओं की भांति विशिष्ट बनाने के हेतु से यहाँ 'एकादशिनीवत्' पद को 'एकविंशति-यूपाः' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया हो सकता है।

### एकादशयूपः

प्रस्तुत समाधान से 'एकादशिनीवत्' पद का इक्कीस यूपों के साधा सम्बन्ध तो समझ में अवश्य आ जाता है, किन्तु हमें ब्राह्मण का एक ऐसा अंश प्राप्त है जहाँ कहा गया है 'अश्वमेध के यूप ग्यारह होते हैं। जब यूप ग्यारह होते हैं तब इस एकादशिनी का विराट् (पृथ्वी या वेद के विराट् बन्ध) के साधा योग उचित रहता है। एकादशिनी का जो ग्यारहवें (पशु) है, वह विराट् का स्तन है। यजमान स्तन-रूप इस ग्यारहवें से विराट् को दुहता है।<sup>2</sup> इस ब्राह्मण-वाक्य में अश्वमेध के यूपों की संख्या स्पष्ट शब्दों में ग्यारह बताई गई है। केवल इतना ही नहीं है 'एकादशिनी' के प्रतीकायित अर्थात् समझा देने के उद्देश्य से उसकी 'पृथ्वी' से या वेद के त्रैष्ठ बन्ध 'विराट्' से समझा भी उपस्थापित कर दी गई है। एकादशिनी संख्या के ग्यारहवें अङ्क को 'विराट्' का स्तन इसलिये बताया गया है कि जिस प्रकार एक ग्वाता गाय के स्तन से उसका दूध दुहता है उसी प्रकार यजमान अश्वमेध के ग्यारहवें यूप से रत्नगर्भा पृथ्वी को या वेदों के समस्त सार को दुह लेने में सक्षम

1. क०शा०प्य, का०श्रौ०सू० 20/4/16.

2. 'एकादशयूपः' । यदेकादश यूपः विराट् वा एषा संमीयते। यदेकादशिनी । तस्यै य एकादशः । स्तन एवास्यै सः । दुह एकेन तैः' श०आ० 13/3/3/8.

होता है। ब्राह्मण का प्रस्तुत वाक्य हेतु निर्देश पूर्वक अश्वमेधा में यूपों की संख्या 'ग्यारह' रखने का संकेत करता है।

इसी सन्दर्भ में शतपथ का एक अन्य कथान है कि-यदि यजमान अश्वमेधा में एकविंश अग्नि, एकविंश स्तोम और एकविंश यूप रखाता है तो वह कष्ट को प्राप्त होता है। उसका यज्ञ नष्ट हो जाता है।

शतपथ के इन दोनों स्थलों में से प्रथम में एकदश यूप-स्थापन का सहेतुक विधान है और द्वितीय में इक्कीस यूप स्थापित न करने का निर्देश। अतः इन दोनों स्थलों के आधार पर तो अश्वमेधा में इक्कीस यूप स्थापित नहीं किये जाने चाहिये १। कात्यायन को प्रमाण नहीं माना जाना चाहिये ११

सिद्धान्तपक्षः :

किन्तु समस्त प्रसङ्ग पर पूर्ण स्पष्टा विचार किये बिना उक्त निष्कर्ष पर पहुँचना उचित नहीं होगा। उक्त दोनों वाक्यों को हरि-स्वामी यूपों की संख्या के सन्दर्भ में ब्राह्मण के विकल्प के रूप में देखाते हैं<sup>2</sup>। किन्तु ये स्थल यूप-स्थापन के सन्दर्भ में ब्राह्मण का पूर्व-पक्ष भी हो सकते हैं; क्योंकि ब्राह्मण का कहना है: 'यदि अग्नि द्वादश (बारह पुरुष-परिमाण) होगी और यूप ग्यारह होंगे तो यह उसी प्रकार का कार्य होगा जिस प्रकार कोई अनियंत्रितों के द्वारा छींचे जाते हुए रथ पर यात्रा करे। अश्वमेधा में वैदी इक्कीस की होती है। स्तोम इक्कीस होते हैं। यूप इक्कीस होते हैं। इन सबका इक्कीस होना उसी प्रकार का

1. 'यदेकविंशाः तान्यत्समर्पयेत् आर्तिमार्च्छेद्यजमानः। हन्येतास्य यज्ञः।' श. ब्रा. 13/3/3/7.

2. 'इत्येकविंशत्रयस्य निंदा कल्पान्तरापेक्षसाध्या' 'अग्नौ यूपेषु कल्पान्तरापेक्षसा यस्तस्य च प्रशंसा निन्दा च' हरि० भा० श. ब्रा. 13/3/3/7,8;

कर सकें और ब्राह्मण के उस मूल भाव को प्रकट सकें जिसे प्रतिपादित करने के लिये उसने 'एकविंश' प्रतीक का सहारा लिया है ।

शतपथ के दशम काण्ड में एक वाक्य आता है : एष वा अश्वमेघाय एष तपति<sup>1</sup> इस वाक्य में प्रातः काल में उदित होते हुए हुए या सायंकाल में अस्त को प्राप्त होते हुए सूर्य-बिम्ब को नहीं अपितु मध्याह्न में आकाश के मध्य प्रबण्ड (तेज-पुञ्ज-रूप) में प्रकाशित होते हुए सूर्य-मण्डल को अश्वमेघा कहा गया है । शतपथ का एक अन्य वाक्य है : 'राजा वा एष यज्ञाना यदश्वमेघाः । यजमानो वा अश्वमेघाः । यजमानो यज्ञः'<sup>2</sup> इस वाक्य में अश्वमेघा को समस्त यज्ञों का राजा बताया जा रहा है । यजमान को अश्वमेघा करने से महत्त्वयुक्त होता हुआ बताने के हेतु से केवल 'यज्ञ' नहीं अपितु यज्ञ-सम्राट् 'अश्वमेघा' बताया जा रहा है । ब्राह्मण के इन दोनों स्थलों को एक साथ रखा लेने पर यजमान-अश्वमेघा-और सूर्य में समान-पदत्व या साधारणत्व स्थापित होता है ।

यजमान, अश्वमेघा और सूर्य के इस साधारणत्व को देखा लेने के बाद हमें ब्राह्मण में एक वाक्य मिलता है : 'असावादित्यः एकविंश । साऽश्वमेघाः'<sup>3</sup> इसमें सूर्य को इक्कीसवाँ कहा जा रहा है और बताया जा रहा है कि अपने एकविंशत्व धर्म के कारण वह अश्वमेघा है । यदि सूर्य के एकविंशत्वधर्म की गवेषणा की जाय तो ब्राह्मण का एक अन्य वचन मिलता है : 'एकविंशो वा एषः य एष तपति ।

द्वादशमासाः पञ्चशतकं त्रयं द्यूमे लोकः । असावादित्यः एकविंश । साऽश्वमेघाः । एषः प्रजापतिः' । ब्राह्मण के इस कथन में बारहमास, पाँच शतकों और तीन लोकों की सह-धर्मिता में सूर्य को इक्कीसवाँ

1. श. ब्रा. 10/6/5/8 .

2. वही, 13/2/2/1 .

3. वही, 13/3/3/3; 13/5/1/5;

4. वही, 13/4/4/11 .

बताने में भाव रहा हो सकता है कि माह, ऋतु और लोक इस विभाग का मूल-आधार सूर्य-देव है। सूर्य के बिना काल और देश का विभाग संभव नहीं। यहाँ तीन लोक देश को और बारह माह एवं पाँच ऋतुयें काल को प्रतीकायित कर रही हो सकती हैं। इक्कीसवाँ सूर्य इस देश और काल के विभाग का नियामक है।

देश और काल के अन्तर्गत संसार की स्थिति है। एकविंश सूर्य देश-काल का नियामक है। अतः वह संसार का भी नियामक है। संभवतः इसीलिये ब्राह्मण उसे अश्वमेध कहने के साथ-साथ प्रजापति भी कह रहा है। देश-काल विभाग की दृष्टि से प्रजापति-स्य सूर्य इक्कीस है। वह देश से, काल से या देशकाल दोनों से उन्नीस नहीं है। देश-तीनों लोक-प्रजापति-स्य सूर्य से उन्नीस है क्योंकि वह अपूर्ण (मात्र तीन) है; परिमित है। काल-बारह माह पाँच ऋतुएँ - भी सूर्य से उन्नीस हैं क्योंकि वह भी अपूर्ण (मात्र सत्रह) और परिमित है। सूर्य देश और काल दोनों से इक्कीस है क्योंकि वह पूर्ण एवं अपरिमित है। सूर्य का उक्त एकविंशत्वं उसी प्रकार का है जैसा कि ऋग्वेद में सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद् विराट्-पुरुष का समस्त पृथ्वी को आवृत्त कर लेने से अतिरिक्त 'दशाद्गुलत्वं' था। यही 'एकविंशत्वं' वृद्धि का, सर्वशक्तिसम्पन्नत्वं का, नियामकत्व का ठीक उसी प्रकार का अभिधान है जैसा कि लोक में उन्नीसत्वं ह्रास का, अपूर्णता का। संभवतः इसी दृष्टि से ब्राह्मण ने मध्याह्न के सूर्य को ही 'एकविंश' 'अश्वमेध' और 'प्रजापति' कहा, प्रातः काल के उदयोन्मुखा या सायंकाल के अस्तोन्मुखा सूर्य-बिम्ब को नहीं।

1. 'सहस्रशीर्षा पुरुषा सहस्राक्षा सहस्रपात् ।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाद्गुलम् ॥ ऋ0वे0 10/907।

आदित्य और अश्वमेध में 'एकविंशत्वं' का साम्य है । 'एकविंशत्वं' के कारण ही दोनों प्रजापति-रूप भी हैं । अश्वमेध का 'एकविंशत्वं' उसमें इक्कीस पुरुष-माप की बैड़ी, इक्कीस स्तन और इक्कीस यूपों की स्थिति से है । अश्वमेध के इस 'एकविंशत्वं सामान्य' या 'इक्कीस यूप विशेष' का आधार आदित्य का उक्त एकविंशत्वं धर्म रहा हो सकता है । अश्वमेध के बाहर के बीस यूप मातृ, हतु और लोकों के प्रतीक रहे हो सकते हैं । अश्वमेध के मध्ययूप का नाम अग्निष्ठ है ।<sup>1</sup> वह प्राजापत्य है । सूर्य अग्नि का ही एक भेद है ।<sup>2</sup> ब्राह्मण उसे प्रजापति भी बता रहा है । सूर्य देश और वास की अपेक्षा इक्कीस -  
 वा है । उक्त यूप भी प्रकृति एकविंश है । सूर्य देश काठ का नियामक है । एकविंश यूप भी शेष यूपों का नियामक है, क्योंकि उसकी स्थिति से ही अन्य यूपों की स्थिति नियमित होती है । अतः अश्वमेध का यह 'मध्यम' यूप एकविंश आदित्य का प्रतीक रहा हो सकता है ।

शतपथ में एक स्थान पर कहा गया है 'एकविंशो वै पुरुषः दशहस्त्याः अङ्गुल्यः दश पादयः आत्मैकविंश । तदनेन एकविंशोनात्मना एतस्मिन् एकविंशो प्रतिष्ठायाम् प्रतिष्ठति ।'<sup>4</sup> यहाँ दस हाथ की और दस पैर की अङ्गुलियों की सापेक्षावा में आत्मा को एकविंश बताया गया है और इस एकविंश आत्मा के द्वारा पुरुष की एकविंश-प्रतिष्ठा की चर्चा की गई है । अङ्गुलियाँ, चाहे हाथ की हों या पैर की, हथेली और पैर से बाहर निकली होती हैं । आत्मा

1. 'मध्यं वा एतद् यूपानां यदग्निष्ठः' श. ब्रा. 13/4/4/6 .

2. श. ब्रा. 13/4/4/6

3. 'असौ वा आदित्य एषोऽग्निः' श. ब्रा. 6/7/1/26

4. श. ब्रा. 13/5/1/6

भी शरीर से पृथक् और महान् बताया गया है । अंगुलि और यूप में आकार का साम्य है । आत्मा और अश्वमेध के एकविंश यूप अग्निष्ठ में सापेक्षित महानता का साम्य है । संख्या-साम्य स्पष्ट है । अतः यह भी एक संभावना बनती है कि पुरुष की उक्त एकविंश-प्रतिष्ठा अश्वमेध में इक्कीस यूपों की स्थिति का वैचारिक आधार रही हो ।

सिर शरीर का उत्तमाङ्ग है, क्योंकि शरीर में उस की स्थिति सर्वोपरि है और वह सभी ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र स्थान है । 'ककुद' भी सिर की भाँति अष्टता का द्योतक है क्योंकि वह स्कन्धा से सम्बद्ध, समस्त पृष्ठ पर व्याप्त और वृषभशरीर में सर्वोच्च स्थानीय होता है । सिर और ककुद की उक्त अष्टता ही अश्वमेध के इक्कीस यूपों को विभिन्न अश्वमेध का सिर और ककुद कहने में हेतु रही हो सकती है । इक्कीस यूप अश्वमेध के सिर और ककुद इसलिये भी कहे गये हो सकते हैं कि इतनी बड़ी संख्या में अन्य किसी भी यज्ञ में यूप स्थापित नहीं किये जाते । अश्वमेध में प्रधानभूत 'अश्व' 'पर्यङ्ग-पशु', 'अग्नीषोमीयपशु' और 'राष्ट्रिणादि', 'एकदशिनी' एवं आरण्य-पशुओं के वातमान का एक मात्र आधार ये इक्कीस यूप ही होते हैं । अतः इसलिये भी इन्हें अश्वमेध का सिर और ककुद कहा गया हो सकता है ।

अश्वमेध में विधि-पूर्वक इक्कीस यूप स्थापित करके यजमान का 'सिर-स्थानीय' एवं 'ककुद-स्थानीय' हो जाना भी इसी प्रकार का कथन है । अश्वमेध पूर्ण करके यजमान अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक तेज एवं वैभव सम्पन्न हो जाता है । वह सभी राजाओं में प्रधान एवं मूर्धन्य हो जाता है । यजमान के 'सिर' और 'ककुद' अभिधान उसके 'मूर्धन्यत्व' का ही उपापन है ।

### यूप-स्थापन-काल

अश्वमेध में इक्कीस यूपों का उचित समय पर उचित विधि से ही स्थापित किये जाने के निर्देश वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में मिलते हैं।<sup>1</sup> इन्हें स्थापित करने के समय के सन्दर्भ में ऋग्वेद का विधान है : 'इत्येतत् पूर्वद्युः कर्म'<sup>2</sup>। यहाँ 'पूर्वद्युः' का अर्थ अश्वमेध की प्रथम सुत्या से ठीक पहले का दिन है।<sup>3</sup> कात्यायन ने अश्वमेधिक अध्याय की चतुर्थ कण्डिका में यूपों की स्थापना का पूर्ण उल्लेख कर देने के अनन्तर 'मातरग्निष्टोम' सूत्र लिखा। किन्तु हमें ज्ञात है कि अश्वमेध में 'प्रथम सुत्या' 'अग्निष्टोम' के दिन ही सम्पन्न होती है।<sup>4</sup> अतः कात्यायन के अनुसार भी यही प्रमाणित होता है कि अश्वमेध में इक्कीस यूपों की स्थापना प्रथम सुत्या से ठीक पहले के दिन में सम्पन्न होती थी।

ऋग्वेद का यूपों के सन्दर्भ में कहना है 'तेषां समानं कर्म'<sup>5</sup>। इस ऋग्वेद वाक्य से यह स्पष्ट है कि अश्वमेध में यूप स्थापन की प्रक्रिया एक समय में होने के साथ-साथ 'एक सदृश' भी रहती थी।

1. (क) श. ऋ. 13/4/4/5

(ख) क. अ. सूत्र 20/4/16, 17, 18, 19, 20;

(ग) म. भा., अश्वमेध 88/25, 26, 27, 28;

(घ) वा. रा०, वा० का० 14/20, 24, 26.

2. श. ऋ. 13/4/4/11

3. द्रष्टव्य, इतिहास का अंग्रेजी अनुवाद।

4. श० ऋ० 13/5/1/1, 2, 3, 4

5. वही, 13/4/4/11



## यूपों में विधि

अश्वमेध में यूपस्थापन की प्रक्रिया पर यदि 'विधि' की दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें शतपथ के त्रयोदश काण्ड के अतिरिक्त तृतीय एवं एकदशकाण्ड, वाजसनेयी संहिता के पाचवें, छठे और पच्चीसवें अध्याय एवं कात्यायन-श्रौतसूत्र के 'निगूढपशुबन्धानिरूपण' और 'अग्निष्टोम' अध्यायों पर भी दृष्टि डालनी आवश्यक होगी। यूपसंपादन के निमित्त दारु छाजेने हेतु जंगलों को जानने से पहले अथर्व्यु को 'उरु विष्णा' मंत्र के साथ आहवनीय अग्नि में बार-बार धृताहुति देनी आवश्यक होती थी<sup>2</sup>। अथर्व्यु आहुति से शेष धृत को अपने साथ लेकर ही बड़ई के संग-संग जंगलों को जाता था<sup>3</sup>। वह यूपयोग्य वृक्षा को पहले 'अयन्त्या'<sup>4</sup> इस मंत्र के साथ धीरे से स्पर्श करता था<sup>5</sup> या वृक्षा की पूर्व-दिशा में छाड़ा लेकर उक्त मंत्र का उच्चारण करता था<sup>6</sup>। वह 'विष्णावेत्वा'<sup>7</sup> इस मंत्र के साथ श्रुवा से उस स्थान-विशेष को छूता था जहाँ से वृक्षा को काटा जाना था<sup>8</sup>। अथर्व्यु-अंशधो त्रायस्वर मंत्रों-उच्चारण करके एक कुश काटने के स्थान पर रखा जाता था<sup>10</sup> 'स्वधिते

1. वा. सं 5/41

2. क. श्री. सू 6/1/4; श. ब्रा. 3/6/4/1, 2, 3;

3. वही 6/1/5; श. ब्रा. 3/6/4/4;

4. वा. सं 5/42

5. क. श्री. सू 6/1/6; श. ब्रा. 3/6/4/5

6. वही 6/1/7; श. ब्रा. 3/6/4/5, 6, 7, 8;

7. वा. सं 5/42

8. क. श्री. सू 6/1/11; श. ब्रा. 3/6/4/9;

9. वा. सं 5/42

10. श. ब्रा. 3/6/4/10;

मैन हिंसी<sup>1</sup> ' मंत्र को बोलते हुए वह वृक्षा पर पक्षी कुल्हड़ी मारता था<sup>2</sup>। वृक्षा से कटने वाला पक्षी विकल्प संभालकर रखा लिया जाता था। तदनन्तर तबला उस स्थान से वृक्षा को काट देते थे<sup>3</sup>। जब वृक्षा पृथ्वी पर गिरने को होता था तब अध्वर्यु 'दूपा' मा लेछी<sup>4</sup> ' इस यजुर्वेद के मन्त्र का उच्चारण करता था<sup>5</sup>। इस बात का इस समय विशेष ध्यान रखा जाता था कि वृक्षा दक्षिण दिशा में न गिरे<sup>6</sup>। वृक्षा कट जाने के अनन्तर 'अतस्त्वं देव' मंत्र से साध लीये हुए घृत के द्वारा उस स्थान पर आहुति दी जाती थी जहाँ से यूप काटकर अलग किया गया था<sup>7</sup>। उक्त आहुति को यूप के निमित्त काटे गये स्तम्भ पर<sup>8</sup> या वृक्षा के कटे हुए स्थान पर<sup>9</sup> दिये जाने का भी विकल्प था।

### यूपों की माप

एक बार जिस नाप का यूप काट लिया जाता था उसे दोबारा काट कर छोटा नहीं किया जाता था<sup>10</sup>। सामान्यतया सभी

1. वा. सं 5/42

2. का. श्रौ. सू 6/1/12

3. श. ब्रा. 3/6/4/11; क. श्रौ. सू 6/1/13, 14 ;

4. वा. सं 5/43

5. श. ब्रा. 3/6/4/13; का. श्रौ. सू 6/1/16

6. वही 3/6/4/12; वही 6/1/17

7. वा. सं 5/43; श. ब्रा. 3/6/4/15, 16; क. श्रौ. सू 6/1/20

8. का. श्रौ. सू 6/1/21;

9. श. ब्रा. 3/6/4/15, 16, महीधार, वा. सं 5/43; का. श्रौ. सू 6/1/22;

10. वही, 3/6/4/17; क. श्रौ. सू 6/1/23

पशुयागों के यूप तीन या चार हाथ के होते थे<sup>1</sup>, किन्तु किन्हीं  
 आचार्यों के मत में इन्हें एक से चार हाथ तक का भी बनाया जा  
 सकता था<sup>2</sup>। तम्बई के अनुसार इनके फल पृथक्-पृथक् बताये गये हैं<sup>3</sup>।  
 सोमयाग के यूपों का सामान्यतया पाँच से पंद्रह हाथ का रहाने का  
 विधान है<sup>4</sup> किन्तु इन्हें सात, दश और चौदह हाथ का बनाना निषि-  
 द्ध है<sup>5</sup>। कात्यायन के एक सूत्र के अनुसार वे अपरिमित हो सकते हैं<sup>6</sup>।  
 सायण 'अपरिमित' का अर्थ सातह हाथ का या इससे अधिक हाथ का  
 यूप करते हैं। कात्यायन के अनुसार राजसूय-यज्ञ के यूप सत्रह हाथ के<sup>8</sup>  
 और शतपथ, कात्यायन-श्रौत-सूत्र और इनके सभी भाष्यकारों एवं टीका-  
 कारों के अनुसार अश्वमेध यज्ञ के यूप इक्कीस हाथ के होने चाहिये<sup>9</sup>।

### यूप-शोधन

यूप का शोधन करते समय अर्चक्यु<sup>10</sup> 'अयहित्वा'<sup>11</sup>  
 मन्त्र का उच्चारण करता था। यूप की मोटाई ऊँचाई के अनुरूप रही

- 
1. का. श्रौ. सू. 6/1/24;
  2. श. ब्रा. 3/6/4/26, का. श्रौ. सू. 6/1/25
  3. श. ब्रा. 11/7/4/1
  4. श. ब्रा. 3/6/4/18-25;
  5. का. श्रौ. सू. 6/1/29;
  6. वही; श. ब्रा. 3/6/4/26;
  7. देखें सा. भा. श. ब्रा. 3/6/4/26;
  8. का. श्रौ. सू. 6/1/30 ;
  9. श. ब्रा. 13/3/3/10; 13/4/4/5, 11; का. श्रौ. सू. 6/1/31 ;
  10. वा. सं. 5/43
  11. श. ब्रा. 3/6/4/14; का. श्रौ. सू. 6/1/18;

जाती थी<sup>1</sup> या यूप की मोटाई वही रहती थी जो ब्रूहा की मोटाई होती थी। यूप के अग्रभाग के पतले होने के कारण समस्त यूप को झीलकर पतला नहीं बनाया जाता था<sup>2</sup>। यूप-शोधन से प्राप्त लकड़ी को ढोकर वेदी के ही पास लाया जाता था, क्योंकि ब्राजसनेयी/संहिता के एक मंत्र में इस लकड़ी के अश्व-अपण में प्रयुक्त होने का उल्लेख है<sup>3</sup>।

यूप के संस्कारों में एक प्रमुख कार्य उसे 'अष्टाश्रि' बनाना था। ब्राह्मण के अनुसार समस्त यूप को अष्ट पक्ष के आकार में परिणत किया जाता था<sup>4</sup>, किन्तु कात्यायन जमीन में गढ़ने वाले भाग को छोड़कर शेष समस्त यूप को आठ कोण का बनाने का विधान करते हैं<sup>5</sup>। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि पतला करने के निमित्त यूप को झीलने का उमर ब्राह्मण ने निर्धारित किया है, उसे अष्टाश्रि बनाने में झीलने का नहीं। यही कारण है कि परवर्ती साहित्य में आये यूपों के वर्णन में उन्हें अष्टकोण का ही चित्रित किया गया है<sup>6</sup>।

शतपथ-ब्राह्मण एवं कात्यायन दोनों ही यूपों को अष्टाश्रि करने के साथ-साथ उन्हें 'चषाल' से युक्त करने का विधान करते हैं<sup>7</sup>। चषाल लकड़ी का एक पशिया होता था जिसका विस्तार दस अंगुल का और आकार अष्टभुज होता था<sup>8</sup>। यूप को सुन्दर बनाने

1. क. श्री. सू. 6/1/32;

2. वही, क० भा०

3. वा. सं. 5/29.

4. श. ब्रा. 3/6/4/27;

5. का० श्री० सू. 6/1/26;

6. 'अष्टाश्रयः सर्व एव श्लक्ष्णस्य समन्विताः' वा. रा. ब. का. 14/26

7. श. ब्रा. 3/7/1/12; क. श्री. सू. 6/1/27

8. देवी, क. भा. , क. श्री. सू. 6/1/27.

के लिये इसे यूप में आगे की ओर से पहनाने का विधान है। यह यूप के मध्य-भाग में या ऊपर से दो या तीन अंगुल नीचे रखा जाता था।

'वशात' ने परवर्ती काल में अपना अर्थ-विस्तार किया और यूप अनेक स्तरों में सजाये जाने लगे। संभवतः इस काल में यूपों का सजाया जाना आवश्यक बन गया और इन्हें मात्र लकड़ी के उपकरणों से ही नहीं फूलमालाओं, रगविरंगे वस्त्रों और स्वर्णभूषणों से सजाया जाने लगा। राजा दशरथ के अश्वमेध के यूपों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे यज्ञ की शोभा के लिये सोने से अलंकृत किये गये थे,<sup>2</sup> इनकी आकृति सुन्दर एवं चिकनी थी<sup>3</sup> और वे सभी इक्कीस यूप पृष्ठाक्-पृष्ठाक् इक्कीस-वस्त्रों से अलंकृत किये गये थे<sup>4</sup>। ये वस्त्रों से सर्बाङ्ग में आच्छादित<sup>5</sup> एवं विविध पुष्पों और चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से संपूजित<sup>5</sup> थे। महाभारत का कहना है कि युधिष्ठिर के अश्वमेध के यूप वस्त्रों द्वारा अलंकृत किये गये थे<sup>6</sup>। धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन ने यज्ञ की शोभा के लिये इक्कीस यूपों के अतिरिक्त और भी बहुत से सोने के यूप छाड़े करवाये थे<sup>7</sup>। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो काष्ठ के यूप बने हुए थे उनमें सोना जड़ा हुआ था, आदि<sup>8</sup>।

1. का. श्रौ. सू. 6/1/27, 28

2. 'शोभार्थं' तस्य यज्ञस्य कञ्चनलंकृता भीष्मन् 'वा. रा. वा. का. 14/24

3. वही, 14/26

4. 'वासाभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृता' वही 14/25

5. 'आच्छादितास्ते वासाभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः' वही, 14/28

6. 'तै व्यराजन्त राजर्षेर्वासाभिस्पर्शोभिताः' म. भा., आश्व. प. 88/30

7. 'शोभार्थं' चापरान् यूपान् कञ्चनान् भरतर्षभ । स भीम कारया-  
मास ..... ।। 'वही 88/29 .

8. 'यूपैश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान् ।

उपकृप्तान् यथाकालं विधावद् भूरिर्वसः ।।' वही 85/31 .

### यूप के निमित्त वृक्षा का चयन

यूप के निमित्त वृक्षा का चयन करते समय सामान्य रूप में यह ध्यान रखा जाता था कि वह वृक्षा 'एकज' होना चाहिये, उस पर कोई लता बढ़ी नहीं होनी चाहिये और उसकी अन्य शाखा-प्रशाखायें नहीं होनी चाहिये । ऋत्वायन के अनुसार बहुत अधिक पत्तों से युक्त, अशुष्काग्र, मध्य एवं अग्रभाग में किंचिद् झुके हुए ग्रन्थि-रहित और उर्ध्वाभिमुखा जल एवं शाखा वाले वृक्षा को ही यूप के निमित्त चुनना चाहिये । यूप के निमित्त वृक्षा के चयन में उनका उक्त मत<sup>1</sup> श्रौतसूत्र<sup>2</sup> और 'यूप लक्षाणा परिभाषा'<sup>3</sup> दोनों ग्रन्थों में समान रूप से वर्णित हुआ है और शतपथ-ब्राह्मण से पुष्ट है<sup>4</sup>। यूपयोग्य वृक्षा के सम्दर्भ में आपस्तम्भ का कहना है कि वह उक्त लक्षाणों के अतिरिक्त असुषिर होना चाहिये, अवलित होना चाहिये; घुनों से अभक्षित, अवक्र, उर्ध्व और ईषद् उपाकृत होना चाहिये । इसे किसी भी स्थिति में दक्षिण-दिशा में झुका हुआ नहीं होना चाहिये<sup>5</sup>। शतपथ का एक अन्य स्थान पर विधान है कि जो (वृक्षा) ऊपर से 'आनत' और मध्य में उपनत<sup>6</sup> हो, वह अम्नादि का रूप है । अतः ऐसे वृक्षा से ही यूप बनाया जाना चाहिये ।

1. का. श्रौ. सू. 6/1/15

2. 'बहुतपणमशुष्काग्रमूर्ध्वशक्तशाखा मध्याग्रापनतमक्षाम्' वहीं 6/1/8

3. 'अक्षणां न व शुष्काग्रा मध्ये चापनता भवेत् ।

अग्रार्धैवान्नत किंचिद् यूपो वै यज्ञिः स्मृतः ।।' यूपलक्षाणा परि-

भाषा, 16

4. श. ब्र. 11/7/3/3

5. आप. श्रौ. सू. 17/17/1504

6. श. ब्र. 11/7/3/3

जो वृक्षा टेढ़ा होकर आगे की शूल की भाँति झुक जाता है उसे 'कपोती' बताया गया है। इससे यूप न बनाने का विधान है, क्योंकि ऐसी लकड़ी का यूप आयुष्मात्क माना गया है<sup>1</sup>। जो वृक्षा उमर से जानत और मध्य में अपनत हो उस से भी यूप नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि ऐसे यूप को ब्रह्मण भूला का रूप कहता है। ऐसी लकड़ी का यूप बना लेने पर यजमान के भृत्य भार्यादि के ह्युत्पीडित हो जाने की बात कही गई है<sup>2</sup>। शतपथ 'बहुसार' लकड़ी से यूप बनाने का निषेधा करके 'फल्गुप्रासह' लकड़ी से यूप बनाने का विधान करता है। उस के मत में बहुसार काष्ठ पशुसम्बद्धि के लिये अशुभ और फल्गुप्रासह शुभ है<sup>3</sup>। 'बहुसार' का प्रसिद्धा अर्थ 'कठोर प्रकार का काष्ठ' है, किन्तु बहुसार से यहाँ 'कठोर अर्थ' अभीष्ट नहीं है, क्योंकि शतपथ अश्वमेध के कुछ यूपों को छादिर वृक्षा से बनाने का विधान करता है<sup>4</sup>। छादिर निश्चित ही कठोर प्रकार का काष्ठ है। शतपथ ने स्वयं उसे 'बहुसार' कहा भी है<sup>5</sup>। यदि उक्त स्थल पर हम कठोर काष्ठ से यूप बनाने का निषेधा मान लेते हैं तो शतपथ के दूसरे स्थल से उसका विरोधा उत्पन्न हो जाता है। अतः निषेधा पक्षा में बहुसार का अर्थ 'तने के अन्तः वर्ती आवृत्तों में स्थित अन्त रेशे' करना ही उचित है जिस की ओर दगतिंग ने संकेत किया है<sup>6</sup>।

1. वही ॥ ११/३/१२

2. वही ॥ ११/१३/३

3. 'स य एष बहुसारः स ह अपशव्यः। तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं न कुर्वीत। अथा य एष फल्गुप्रासहः सह पशव्यः। तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं कुर्वीत' श. भा. ॥ ११/३/१;

4. 'षट् छादिराः। त्रय एवेत्यात्। त्रय इत्यात्' वही ॥ ३/४/४/५

5. 'अस्मिन्मय एवास्य छादिरः समभावत्। तस्मात् स दास्याते बहुसारः। वही, ॥ ३/४/४/९

6. देहो, श. भा., से बुआ. ई. सी., भाग ५, पृ. १२३, पा. टि सं १;

## यूप्य वृक्षा

यूप बनाने योग्य वृक्षा की जाति के सन्दर्भ में आप-स्तम्भ का कहना है 'यूप्याः वृक्षाः पलाश-छादिर-क्लिब-रोहीत-काः<sup>1</sup> । यक्ष पलाश, छादिर और क्लिब वृक्षा तो स्पष्ट हैं किन्तु 'रोहीतक' अस्पष्ट है । धूर्तस्वामी रोहीतक को 'वट' के आकार का ह्रस्ववर्ण वृक्षा<sup>2</sup> कहते हैं । सद्दत्त ने इसे 'वट' की ही अवन्तर जाति का वृक्षा<sup>3</sup> कहा है । कात्यायन के मत में रोहीतक सोम-याग के यूपों के लिये उपयुक्त वृक्षा<sup>4</sup> है । क्योंकि अश्वमेध सोमयाग है अतः अश्वमेध में भी वह प्रयुक्त हो सकता है। किन्तु अश्वमेध के यूपों के निमित्त वृक्षा का उल्लेख करते समय शतपथ रोहीतक का उल्लेख नहीं करता । शतपथ की मान्यता है कि रज्जुदात, पीतदारु, क्लिब, छादिर और पलाश वृक्षा से अश्वमेध के यूप बनाने चाहिये<sup>5</sup> । कात्यायन यक्ष शतपथ से पूर्णतया सहमत है<sup>6</sup> । किन्तु रामायण और महाभारत में जहाँ अश्वमेध के यूपों का वर्णन हुआ है वक्ष रज्जुदात का उल्लेख नहीं है। इसके स्थान पर वहाँ 'श्लेष्मातक' वृक्षा के यूप का उल्लेख होता है<sup>7</sup> । सायण रज्जुदात

1. आप. श्रौ. सू. 15/15/1502

2. वही, धूर्तभाष्य ।

3. वही, सद्दत्त वृत्ति ।

4. का. श्रौ. सू. 6/1/9

5. श. भा. 13/4/4/5

6. का. श्रौ. सू. 20/4/17, 18, 19;

7. (क) 'श्लेष्मातकमयोदिष्टो देवदा समयस्तथा । द्वावेव तत्र विहितः ।'  
वा. रा., वा. का. 14/23

(छा) 'श्लेष्मातकमयं वैकं याजकाः समकल्पयन्' म. भा., आश्व. प. 88/28



का अर्थ स्लेष्मातक करते हैं<sup>1</sup>। संहितापुस्तसार टीका भी रज्जुदाल को 'स्लेष्मातक' कहती है और इस का लौकिक नाम 'गूदी' बताती है<sup>2</sup>। कहीं-कहीं इसे 'लसांडा'<sup>3</sup> और 'बहेडा'<sup>4</sup> भी बताया गया है। किन्तु कृष्णायजु ने इसे 'उद्दाल-वृक्षा' कहा है<sup>5</sup>। लगता यह है कि 'रज्जुदाल', 'उद्दाल', 'स्लेष्मातक', 'राहीतक' एक ही वृक्षा के कई अभिधान हैं। इस की जाति निश्चित ही बरगद-वृक्षा के अति निकट रहती होगी, जिसकी ओर धूर्तस्वामी और स्रग्दत्त ने संकेत किया है; क्योंकि अपने विशाल आकार और लम्बी आयु के कारण 'बरगद' को एक श्रेष्ठ वृक्षा माना गया है शितपथा प्रजापति के स्लेष्म से 'रज्जुदाल' की उत्पत्ति मानता है<sup>7</sup>। निर्वचन की दृष्टि से 'स्लेष्मातक' स्लेष्म के पर्याप्त निकट है। राहीतक को आचार्य ने स्लेष्मातक का पर्यायवाची माना ही है। बरगद जाति का वृक्षा स्लेष्म बहुत देखा जाता है। अतः यही उचित लगता है कि 'राहीतक', 'रज्जुदाल', 'स्लेष्मातक', 'उद्दाल' एक ही वृक्षा था। वर्तमान समय का 'गूदी' वृक्षा उक्त सभी अभिधानों का वाच्यार्थ बनने में पर्याप्त सक्षम है।

1. सा. भा., कै. सं. 26/1;

2. 'रज्जुदालः स्लेष्मातकः' 'गूदी' इति लोके प्रसिद्धाः संछात्र, 20/4/17;

3. सं. हि. को., आ.प्टे., 1040;

4. बा० रा०, हि० अनु०, गी० अ०, पृ० 58;

5. तै० सं० 26/1;

6. 'न्यग्रोर्ध्वं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत । नमस्तेऽस्तु महावृक्षा पारयेन्मे पतिर्ब्रतम् ॥

कौसल्या वैव पश्येम सुमित्रा व यशस्विनीम् । इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥ बा० रा०, अयो० अ० 055/24, 25;

7. 'तस्य यः स्लेष्माऽऽसीत् स सादर्धं समक्कृत्य मध्यतो नस्त उदभिनत् स एष कास्पतिरभवत् रज्जुदालः' श. भा. 13/4/4/6;

अश्वमेध के यूप बनने वाले वृक्षों में रज्जुदात के साथ  
 'पीतुदारु' भी गिना गया है। इसे प्रजापति के आपोमय सगन्धितैव  
 से उत्पन्न हुआ बताया गया है। ब्राह्मण का कहना है - यह गन्धीत्यन्न  
 है इसलिये सुगन्धित है। तैजोत्यन्न है इसलिये शीघ्र ज्वलनशील है। क्योंकि  
 यह प्रजापति के नेत्र से उत्पन्न हुआ है इसलिये नेत्रमल के अनुरूप यह पीत-  
 वर्ण है<sup>2</sup>। ब्राह्मण के इस कथन से पता चलता है कि पीतुदारु के  
 प्रजापति से सम्बद्ध होने के कारण और सुगन्धित गन्ध से युक्त  
 होने के कारण बाद में इसका देवदारु नाम पड़ा। सभी आचार्यों ने  
 पीतुदारु की देवदारु रूप में ही व्याख्या की, रामायण और महाभारत  
 में वर्णित अश्वमेधों में उक्त वृक्ष को पीतुदारु न कह कर सीधे देवदारु  
 कहा भी गया है<sup>3</sup>। 'दारु' का अर्थ काष्ठ होता है। अतः देवता सम्ब-  
 न्धी काष्ठ होने के कारण देवदारु 'देवदारु' है। किन्तु संस्कृत में  
 'र' और 'ल' में अन्धेद माना गया है<sup>4</sup>। इस अन्धेद में हेतु इन दोनों वर्णों  
 का 'प्रयत्न' का साम्य ही नहीं, ध्वनियाँ का परस्पर अतिनिकट होना  
 भी है। अतः आरम्भ में 'रज्जुदात' भी देवदारु की भाँति 'रज्जुदारु'  
 रखा जा सकता है। वरगद जाति के सभी वृक्षों में रस्सी जैसी लम्बी  
 जटायें रहती हैं। अतः 'रज्जुदारु' अभिधान सार्थक भी लगता है। ब्राह्मण

1. श. भा. 13/4/4/6

2. वही

3. (क) 'देवदारुमयस्तथा। द्वावेव तत्र विहितौ बाहु व्यस्तपरिग्रहौ ॥'

बग0रा0बा0का014/23

(ग) 'देवदारुमयौ द्वाौ तु यूपौ कुम्भतैर्महौ।' म. भा., आश्व0प088/28

4. 'स्तयोरेन्द' ।

के 'रज्जुदारु' को प्रयुक्त न करके 'रज्जुदात' प्रयुक्त करने में हेतु यह रहा  
 हो सकता है कि उस समय तक लोक में वह 'रज्जुदारु' न रह कर 'रज्जुदात'  
 बन गया होगा। अतः ब्राह्मण ने परिज्ञान में सुलभता की दृष्टि से लोक-  
 प्राप्त रज्जुदात का ही प्रयोग किया, शास्त्रियशब्द 'रज्जुदारु' का नहीं।  
 'रज्जुदारु' में 'उ' के लोप की घटना उसी प्रकार की रही हो सकती है  
 जिस प्रकार 'देवदारु' में 'उ' के लोप की। आज जिस प्रकार 'देवदारु'  
 देवदारु न रह कर देवदार हो गया है उसी प्रकार सर्वप्रथम रज्जुदारु  
 'रज्जुदार' बना होगा और बाद में 'रज्जुदात'।

### ब्राह्मण की मूल-भावना

अश्वमेध के यूपों के निमित्त रज्जुदात, पीतुदारु,  
 क्रिब, छादिर और पलाश का ही विधान करने में ब्राह्मण का कोई  
 निगूढ़ अभिप्राय अवश्य रहा होगा। उक्त वृक्षों पर इस दृष्टि से यदि  
 विचार किया जाय तो पता चलता है कि रज्जुदात का चयन अग्निष्ठ-  
 यूप के लिये है। यह एक ऐसा यूप है जो इक्कीस यूपों में प्रधान है, यूपों  
 के केन्द्र में स्थित है और जिस में अश्वमेध का सारभूत अश्व पर्यङ्ग्य  
 पशुओं के साथ बँधता है।<sup>1</sup> ब्राह्मण केवल अग्निष्ठ-यूप को प्रजापति  
 का यूप कहता है अश्वमेध के शेष यूपों में से अन्य किसी यूप को नहीं<sup>2</sup>।  
 ब्राह्मण के ही अनुसार रज्जुदात प्रजापति के नासिका-निमित्त स्तेष्व

1. श. ब्रा. 13/2/2/2

2. 'सप्तदशी च पशून् मध्यमे यूप आलभत। सप्तदशी चै प्रजापतिः प्रजापतिर-  
 श्वमेधः। अश्वमेधस्यैवाप्तये षोडश षोडशतरेषु। षोडशकं वा  
 हृद सर्वम्' श. ब्रा. 13/2/2/13;

से उत्पन्न हुआ है<sup>1</sup>। अतः प्राजापत्य 'अग्निष्ठ' के लिये प्राज्यापत्य 'रज्जुदाल' का चयन औचित्यपूर्ण है। पीतुदारु, क्खि आदि उत्पत्ति के आधार पर प्राजापत्य वृक्ष होते हुए भी 'अग्निष्ठ' के लिये उपयुक्त इसलिये नहीं है कि 'रज्जुदाल' का सम्बन्ध प्रजापति की नासिका से है। नासिका मुँह पर सबसे ऊपर उभरी होती है। अतः श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठ नासिका का प्रतिनिधित्व प्रजापति की नासिका से उत्पन्न रज्जुदाल ही कर सकता है, पीतुदारु आदि नहीं।

अग्निष्ठ यूप के लिये 'रज्जुदाल' का ही चयन करने में एक कारण यह भी रहा हो सकता है कि इस यूप में अश्व वैधता है, जिसका द्वादश या त्रयोदश अरत्ति रशना से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है<sup>2</sup>। इक्कीस यूपों में यही एक ऐसा यूप है जिसमें पर्यङ्ग्यपशुओं की अश्ववङ्गा पर बाधने हेतु रस्सी का प्रयोग होता है<sup>3</sup>। 'रज्जुदाल' में ऊपर की समीक्षा के आधार पर 'रस्सी' का भाव विद्यमान है<sup>4</sup>। अतः रज्जुदाल ही 'अग्निष्ठ' के लिये उपयुक्त है, पीतुदारु क्खि आदि आदि नहीं।

1. वही, 13/4/4/6

2. (क) वा. सं. 22/2, 3, 4

(ख) श. भा. 13/1/1/2, 13/1/2/1 से 4;

(ग) का. श्री. सू. 20/1/7, 25, 26;

3. (क) 'रसाटे तताटे अश्वस्य यूपभूते उपायेनात्मते नियुनक्ति' हरि० भा. भा०, श. भा. 13/2/2/3.

(ख) 'अत्र अश्वस्य शरीरं तरणार्थं तुम्बीफलमिव सर्वतो रज्ज्वा

गुम्पनीयम्। तथा सति उक्तस्थाने पर्यङ्ग्यात्मभस्तत्तत्स्थाने

गुम्पितरज्ज्वाम् सुकरः स्यादिति देव्याङ्गिकाचार्यः।' सं. सा. 20/6/4

(ग) दे०, मही० भा. प्य, उ. ० भा०, वा० सं. 24/1

4. दे०, ऊपर, पृ० सं०-

रज्जुदाल प्रजापति के श्लेष्म से उत्पन्न हुआ है। संभावतः इसीलिये उसका एक अभिधान श्लेष्मातक भी है। 'गूदी' या 'वरदग' जाति के सभी वृक्ष श्लेष्म-प्रधान देहा जाते हैं। इन में श्लेष्म एक अङ्ग-विशेष में न होकर समस्त वृक्ष में होता है। छादिर, किल्ब, देवदार और पलाश में मात्र एक किल्ब ऐसा वृक्ष है जिस के फल में श्लेष्म है किन्तु जड़, तना, शाखा आदि में किल्ब में भी श्लेष्म नहीं है। अतः श्लेष्मजन्म और सर्वाङ्ग में श्लेष्मयुक्त (गूदी-विशेष या वरदग जाति सामान्य का) रज्जुदाल ही प्रजापति के नासिका-स्थानीय मध्यम-यूप अग्निष्ठ के लिये उपयुक्त है, देवदारु, छादिर, किल्ब आदि नहीं।

अश्वमेध के यूपों में दो यूप देवदार वृक्ष से बनाने का विधान है। देवदार को यूप के निमित्त चयन करने में उसकी सुन्दर गन्धा और शीघ्र ज्वलनशीलता ने ब्राह्मणों को आकर्षित किया था। वह उसकी ज्वलन-शीलता में प्रजापति के आप्तमय तेज को देहाता है। तेज का विशेष आश्रय नेत्र होते हैं क्योंकि नेत्र सूर्य-स्थानीय माने गये हैं, और सूर्य का उत्पत्ति-स्थान भी नेत्र ही है। देवदार प्रजापति के नेत्र से उत्पन्न होने के कारण ही शीघ्र ज्वलनशील, गन्धायुक्त और पीताभ बताया गया है। अतः वह यूप बनने के लिये सर्वथा उपयुक्त है। अश्वमेध यज्ञ है। यज्ञ देवताओं के निमित्त होता है। देवदारु देवताओं का वाष्प है। अतः 'देवदारु' अभिधान भी यूप के निमित्त

1. (क) 'पैतुदारवाभिः' श. भा. 13/4/4/5

(छा) 'अभिः पैतुदारवा' का०श्री. सू. 20/6/18

2. 'तस्मादुज्ज्वलते तेजसा हि समभवत' श. भा. 13/4/4/7

3. (क) 'देवानां चक्षुः सुमगा वहन्ती रवेतं नयन्ती सुदृशिकमश्वम्'।

उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता।। ३०७/७७/३; आदि।

(छा) 'सूर्यश्चक्षुः' श. भा. 10/6/4/1

4. 'चक्षुः सूर्या अजायत' अट. 10/90/13

5. श. भा. 13/4/4/7

उसके वयन को उचित बताता है ।

अश्वमेध के कृः यूप बिल्ब वृक्षा से बनाये जाते थे ।<sup>1</sup>  
बिल्ब को यूप के निमित्त चुनने में ब्राह्मण का तर्क यह रहा है कि वह  
प्रजापति की मज्जा से उत्पन्न हुआ है इसलिये उसका मज्जा (फल का  
गूदा) छानने योग्य है । मज्जा पीता होता है, इसीलिये बिल्ब काष्ठ  
पीता है<sup>2</sup> । यही केवल मज्जा के गुण-धर्म-साम्य के आधार पर बिल्ब  
को यूप के निमित्त चुनने का संकेत है । किन्तु बिल्ब को यूप के निमित्त  
चुनने में आपस्तम्भ का तर्क है कि वह अन्नादि और ब्रह्मवर्चस्व का प्रतीक  
है, इसलिये इन दोनों की कामना वाले यजमान को बिल्ब-वृक्षा के यूप  
प्रयुक्त करने चाहिये<sup>3</sup> । बिल्ब आपस्तम्भ की दृष्टि में अन्नादि का प्रतीक  
इसलिये हो सकता है क्योंकि उसके समस्त फल छाद्य हैं । वह ब्रह्मवर्चस्व  
का प्रतीक इसलिये हो सकता है कि बिल्बफल अरण्यवासी ऋषि, मुनि  
और तपस्वियों का अन्न है, जिनका ब्रह्मवर्चस्व से निकट का सम्बन्ध  
है ।

शतपथ अश्वमेध के कृः यूप छादिर वृक्षा के बनाने का  
विधान करता है<sup>4</sup> । छादिर को यूप के निमित्त चुनने में उसका तर्क यह है  
कि छादिर प्रजापति की आस्थियाँ से उत्पन्न हुआ है । अस्थि कठोर  
होती है । इसीलिये छादिर काष्ठ भी कठोर होता है<sup>5</sup> । ब्राह्मण के इस

1. 'षट् बिल्वाः । त्रय इत्थात् त्रय इत्थात्' श. ब्रा. 13/4/4/5

2. वही, 13/4/4/8

3. 'बैल्वमन्नाद्यकाम्यो ब्रह्मवर्चसकामो वा' आ०श्रौ०सू० 16/16/1503

4. 'षट् छादिराः । त्रय एवेत्थात् । त्रय इत्थात्' श. ब्रा. 13/4/4/5

5. 'अस्थिम्य एवास्थि छादिरः समभवत् । तस्मात् स दास्याः बहुसारः ।

दास्यामिव ह्यस्थिः । तेनैवैन तद्रूपेण समर्धयति' वही 13/4/4/9

उत्सेछा के अनुसार छादिर की कठोरता उसके यूप के निमित्त चयन का आधार है । किन्तु यूपनिमित्त चयन के लिये मात्र 'कठोरता' पर्याप्त आधार नहीं बन सकती । कठोर तो कोई भी काष्ठ हो सकता है । अतः छादिर के चयन के सम्बन्ध में कुछ और अधिक जानने की जिज्ञासा बनी ही रहती है । इस सम्बन्ध में आपस्तम्भ का कहना है 'छादिरं स्वर्गकाम्यं वीर्यकाम्यम्'। स्वर्ग की कामना या वीर्य की कामना रखाने वाले यजमान को छादिर से यूप बनाने का विधान करने के पीछे आपस्तम्भ का अभिप्राय यह है कि कठोर काष्ठ छादिर का पराक्रम से सीधा सम्बन्ध है । छादिर की लकड़ी ही तलवार, परशु इत्यादि अस्त्रों में मूठ एवं बैठ के रूप में प्रयुक्त होती है। क्योंकि यह अत्यन्त कठोर और मजबूत है । इस के उपर दीमक और घृन का असर नहीं होता है<sup>2</sup>। छादिर का पराक्रम से सम्बन्ध इसलिये भी है क्योंकि यह क्षत्रिय की लकड़ी है । मनुस्मृति क्षत्रिय ब्रह्मवारी के लिये छादिर-दण्ड का विधान करती है<sup>3</sup>। छादिर का वर्ण रक्त होता है । रक्त वर्ण क्षत्रिय का है । नाट्यशास्त्र रङ्गशास्त्र में क्षत्रियस्तम्भ की स्थापना करते समय इसे तात वस्त्र, तात माला, और तात बन्दन आदि से युक्त करने का विधान करता है<sup>4</sup>। उस समय ब्राह्मणों के लिये गुठ-धानी छिताने का विधान है, जो रङ्ग में तात ही होती है ।<sup>5</sup> इस

1. आ. श्रौ. सू. 16/16/1503

2. देहों, श. श्र., सै. कु. आ. ई. सी., भाग 5, पृ. 374, ठि सं 3

3. 'क्षत्रियो वाच्छादिरौ' मनु 2/45

4. 'ततस्क्षत्रियस्तम्भो वस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।

सर्वं रक्तं प्रदातव्यम्' ना. शा. 0 2/47.

5. वही 2/48

स्तम्भा के नीचे जिस धातु को दबाने का विधान है वह तावी है, जो वर्ण में तात है। अतः यह मानने में कोई संदेह नहीं है कि तात-वर्ण का छादिर पराक्रम का प्रतीक है और क्षात्रिय का वृक्षा है। पराक्रम और स्वर्ग का सीधा सम्बन्ध है। इन्द्र पराक्रम से ही स्वर्ग का अधिपति है। पृथ्वीपति यजमान भी अपने पराक्रम के बल पर राज-सूय, अग्निष्टोम, अश्वमेध जैसे यज्ञ सम्पादित करके स्वर्ग को जीतता है। अतः वीर्य की कामना वाले ( संसार के ऊपर शासन करने की इच्छावाले) एवं स्वर्ग की कामना वाले यजमान का छादिर-वृक्षा से यूप बनाना औचित्यपूर्ण है। इसीलिये अश्वमेध में एक यूप छादिर-वृक्षा से बनाये जाते हैं।

अश्वमेध में एक यूप पताश-वृक्षा<sup>2</sup> से बने होते थे। शतपथ-ब्राह्मण पताश को प्रजापति के मांस से उत्पन्न हुआ कहता है और मांस से उत्पन्न होने के कारण ही इसे 'बहुरस' एवं 'तोहितरस' वृक्षा कहता है। इसके अतिरिक्त पताश के सम्बन्ध में एक स्थल पर शतपथ का कहना है 'दिवि वै सोम आसीत्। तं गायत्री क्यो मूत्वा हरत्। तस्य यत्पणर्मच्छिद्यत्, तत् पणस्य पणत्वम्। इतिन्वा एतत् ब्राह्मणमुद्यते'<sup>4</sup>। इस ब्राह्मण वाक्य में सोम से व्युत्पन्न हुए एक पण से पताश-वृक्षा की उत्पत्ति बताई गई है। ब्राह्मण यहीं 'अथ हैष ससोमेन पशु-<sup>5</sup>

1. 'ताम्र चाफ प्रदातव्यं स्तम्भो क्षात्रियसंज्ञे' वही, 2/5।

2. 'षट् पताशाः। त्रय एवेत्यात्। त्रय इत्यात्।' श. ब्रा. 13/4/4/5

3. 'मासेभ्य एवास्य पताशः समभावत्। तस्मात् स बहुरसो तोहितरसः' वही, 13/4/4/10

4. श. ब्रा. 11/7/3/8

5. 'आहरणसमये तस्य सोमस्य यत्पणर्मच्छिद्यत् स एव पताश-वृक्षा अभवत्। तस्मादेकारणात् तस्य पणवृक्षास्य पणत्वम् - पणमावः - पताश इति नाम सम्पन्नमिति।' सांभान् 0, वही।



बन्धानं यजते यः पलाशं यूपं कुर्वती । तस्मात् पलाशमेव यूपं कुर्वीत ।  
 कहकर ससोमपशुबन्धा में पलाशवृक्षा के यूप बनाने का विधान करता  
 है । अश्वमेध ससोमपशुबन्ध याग ही है । अतः इसमें पलाश के यूप  
 होने उचित है । पलाश को सोम के पत्ते से उत्पन्न हुआ निर्दिष्ट  
 करने में कारण यह रहा हो सकता है कि पलाश 'पर्णवृक्षा' है । 'सोम'  
 रसबहुल था । पलाश भी रसबहुल है । अतः वह सोम से सम्बन्धित  
 यज्ञ-अश्वमेध का यूप बनने के लिये सब प्रकार से उपर्युक्त है ।

### यूप स्थापन की औपचारिकतायें

यूप्य वृक्षा को इसी अध्याय में पूर्व-वर्णित विधि  
 एवं संस्कार पूर्वक यूपों में परिणत कर लेने, और उन्हें उचित स्थान में  
 स्थापित करके यूपवाहों द्वारा वेदीस्थल पर ले जाने के अनन्तर, कुछ  
 विशेष औपचारिकताओं के साथ स्थापित किया जाता था । सर्व  
 प्रथम अध्वर्यु 'देवस्यत्वा' (वा. सं 6/1) मंत्र का उच्चारण करके आह्व-  
 नीय के सामने पत्ते मुड़ा की एक लकड़ी से, यूप गाड़ने हेतु, अबट के लिये  
 जमीन पर गोले निशान बनाता था<sup>3</sup> । यह निशान इस प्रकार से  
 बनाया जाता था कि अबट आधा वेदी में और आधा वेदी से  
 बाहर रहे<sup>4</sup> । अबट यूप के 'उपर'<sup>5</sup> के बराबर ढाँटा जाता था<sup>6</sup> । इसे

1. वही ।

2. वा. सं 25/29

3. का. श्रौ. सू 6/2/8

4. श. श्र. 3/7/1/1, 2;

5. (क) 'उपरशब्देन वोपरार्द्धः (गर्तप्रवेशार्द्धः) प्रदेशो लक्ष्यते। उपरार्द्धप्रदेश  
 सम्मिलं जानति इति अर्थः' का. भा. 6/2/9

(ख) 'प चमोशं न्यसेद् भूमौ सर्वसाधारणानि विधिः । इति  
 वास्तुशास्त्रोक्तैः अपस्तम्बो यूपप चमोसो निष्ठानकर्तुं गर्तवाचकेन  
 उपर शब्देन लक्षणाय इत्यर्थः' ।। सं. श्र. 6/2/9 ।।

6. का. श्रौ. सू 6/2/9; श. श्र. 3/7/1/3;

ढाँदने में जो मिट्टी निकलती थी उसे अवट की पूर्व-दिशा में पेंका जाता था<sup>1</sup>। अवट तैयार हो जाने पर इस के समूचा यूप को इस प्रकार से रखा जाता था कि उस का सिर पूर्व की ओर रहे<sup>2</sup>। जब अध्वर्यु यूप के ऊपर एक मुठ्ठी कुश और 'प्रथमशक्त'<sup>3</sup> रखाता था<sup>4</sup>। वह 'यवोऽसि' (वा. सं. 6/1) मंत्र के साथ कुछ जो जल में भिगाता था और इस जल से 'दिवेत्वा' (वा. सं. 6/1) मंत्र के साथ यूप के अग्रभाग, मध्यभाग और अन्तर्भाग पर प्रक्षिण करता था<sup>5</sup>। जो जल प्रक्षिण से बच रहता था उसे 'शुन्धान्ताम्' (वा. सं. 6/1) मंत्र के साथ अवट में डाल देता था<sup>6</sup>। वह 'पितृभदनमसि' (वा. सं. 6/2) मंत्र के साथ कुशों को अवट में इस प्रकार से डालता था कि उन में से कुछ के सिर पूर्व को और कुछ के उत्तर को किंचिद् निकले रहें<sup>7</sup>। वह 'अग्नेरीरसि' (वा. सं. 6/2) मंत्र के साथ 'प्रथमशक्त' को भी अवट में डाल देता था<sup>8</sup>। तदनन्तर अवट में (श्रुवा) से मौन घृताहुतियाँ दी जाती थी<sup>9</sup>।

- 
1. वही, 6/2/10; वही, 3/7/1/3
  2. वही, 6/2/11; वही;
  3. वही, 6/1/13; वही, 3/6/4/11
  4. वही, 6/2/12, 13; वही, 3/7/1/3
  5. वही, 6/2/15; वही, 3/7/1/4, 5;
  6. वही, 6/2/17; वही, 3/7/1/6;
  7. श. ब्र. 3/7/1/7; क०श्रु. सू. 6/2/18;
  8. वही, 3/7/1/8, 9; वही, 6/2/19;
  9. वही, 3/7/1/10; वही, 6/2/20;

अध्वर्यु या यजमान उत्तर-दिशा में बैठकर पूर्व-दिशा से यूप की परिक्रमा करके उसे घृत-लिप्त करता था<sup>1</sup>। 'चषात' कभी बाहर और भीतर दोनों ओर से घृत-लिप्त किया जाता था। अध्वर्यु 'सुपि-प्पताभ्या' (वा. सं 6/2) मंत्र के साध्या उत्तर-दिशा से इसे यूप के अग्रभाग में स्थापित करता था<sup>2</sup>। अब 'दयामग्रेण' (वा. सं 6/2) मंत्र के साध्या यूप को उठा कर 'या तै' (वा. सं 6/3) मंत्र का उच्चारण करते हुए अबट में रखा दिया जाता था<sup>3</sup>। अध्वर्यु 'ब्रह्मबनि त्वा'<sup>4</sup> (वा. सं 6/3) मंत्र के साध्या अबट को मिट्टी से पूरित करता था और 'ब्रह्म दृह' (वा. सं 6/3) इत्यादि मंत्रों से यूप के चारों ओर की मिट्टी को तीन बार में दबाता था<sup>5</sup>। अबट को मिट्टी से भूमि के बराबर भरकर और इस के ऊपर जल छिड़क कर अध्वर्यु यजमान को इसे स्पर्श करने के लिये प्रेरित करता था। यूप-स्पर्श के समय 'विष्णो-कर्मणि'<sup>6</sup> (वा. सं 6/4) मंत्र का उच्चारण किया जाता था। अन्त में यजमान को चषात देवाने का कहा जाता था और चषात को देवताते समय उस से 'तद् विष्णो' (वा. सं 6/5) मंत्र का उच्चारण कराया जाता था<sup>7</sup>। ब्राह्मण का कथन है : 'तैषां समानं कर्म'<sup>8</sup>। अतः स्पष्ट है कि यूप स्थापन की उक्त औपचारिकतायें सभी यूपों के स्थापन में एक सी ही रहती थीं।

1. वही, 3/7/1/11; वही 6/2/21; 6/3/2;

2. वही, 3/7/1/12; वही, 6/3/3/4;

3. वही, 3/7/1/14, 15; वही, 6/3/7, 8;

4. वही, 3/7/1/16; वही, 6/3/9;

5. वही, 3/7/1/16; वही, 6/3/10;

6. वही, 3/7/1/17; वही, 6/3/11;

7. वही, 3/7/1/18; वही, 6/3/12;

8. श. ब्रा. 13/4/4/11.

यूप के निमित्त अबट तैयार करते समय 'अभि' द्वारा भूमि पर जो गाँता बनाया जाता था वह इस बात का प्रतीक था कि यजमान यज्ञ में किन्तु उत्पन्न करने वाले अपने सभी शत्रुओं का सिर काट रहा है। इस समय जो मन्त्र प्रयुक्त होता था उस का अर्थ है हे अभि । मैं सूर्य के अनुशासन में स्थित होकर अश्विनी कुमारों के बाहुओं और पूषादेवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण कर रहा हूँ। तुम योषा ली (मेरी अन्तःशक्ति हो) मैं तुम्हारे द्वारा राक्षासों की गर्दन काटता हूँ। यह मंत्र 'अभि' की क्षुरिका के स्म में और राक्षासों को यज्ञ विधियों के स्म में उपस्थित करता है। ब्राह्मण 'अभि' को 'वज्र' का स्म बताता है<sup>2</sup>। अतः 'अभि' द्वारा अबट-परितेज को तलवार से शत्रु बंध के स्म में आया हुआ मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अबट का छाँटा जाना और उसके पास यूप को रखना तो समझ में आता है, क्योंकि यूप को छाँटा करने के लिये यह आवश्यक था। किन्तु यूप को जो मिश्रित जल से प्रोक्षित करना, कुशों से संस्कृत करना, प्रोक्षणा से अवशिष्ट जल, कुश और प्रथमशक्त को अबट में डालना, त्रिष्ट अबट में घृताहुति देना आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जो रहस्यमय लगते हैं और व्याख्या सापेक्ष है।

ब्राह्मण के एक कथान के अनुसार देव और असुरों में संघर्ष होने पर सभी ओषधियाँ देवों को छोड़कर असुरों के पास चली गईं, केवल जो ही देवताओं के पास रखा। बाद में देवों ने यव के सहयोग से असुरों की सभी ओषधियाँ को प्राप्त किया। क्योंकि जो से देवताओं

1. वा. सं. 6/1

2. 'वज्रो वा अभि : ' श. भा. 3/7/1/2

3. श. भा. 3/6/1/8;

ने औषधियाँ को प्राप्त किया ( अयुवतः ), अतः वे यव हैं । इस स्थान पर जो को औषधियों के सार के रूप में उपस्थित किया गया है । प्रोक्षाण के जल में जो को डालने का भाव यह है कि यजमान शत्रुओं की सभी औषधियाँ को अपने वश में करता है । तर्क में भी जो का पानी शक्तिवर्धक औषधि के रूप में प्रसिद्ध है । प्रोक्षाण के जल में जो मिश्रित करने में एक अन्य कारण यह है कि जो व्यक्ति को शत्रुओं से दूर रखने की शक्ति रखता है । 'यवोऽसि यव्यास्मद्द्वेषा यव-  
प्राप्ति' मंत्र ऐसा मानने में प्रमाण है । औषधि रस अकेले 'जो' से, या प्रोक्षाण के प्रसिद्ध साधन मात्र 'जल' से, प्रोक्षाण न करके 'जो मिश्रित' जल' से ही प्रोक्षाण करने में ब्राह्मण का अभिप्राय यह है कि केवल 'अन्न' या केवल 'जल' से भूखे व्यक्ति की तृप्ति नहीं देखी जाती, इन दोनों को साथ-साथ ग्रहण करने से ही तृप्ति देखी जाती है । अतः जो और जल को प्रोक्षाण में साथ-साथ रखा जाता है ।<sup>3</sup> यूप के अग्र, मध्य और अन्त भाग में प्रोक्षाण होता है और इस समय 'दिवे त्वा प्रोक्षामि' 'अन्तर्दिक्षाय त्वा प्रोक्षामि' 'पृथिव्यै त्वा प्रोक्षामि' क्रमशः इन तीन मंत्रों का उच्चारण किया जाता है । इस त्रिविध यूप-प्रोक्षाण का संभावित अभिप्राय यह है कि यजमान द्यु,

1. वही, 3/6/1/9

2. व. सं 5/26;

3. 'आपो ह वा औषधीनां रसः । तस्मादौषधाय केवल्यः छादिता न धिन्बन्ति । औषधाय उ हा अपी रसः । तस्मादापः पीता केवल्यो न धिन्बन्ति । पदेयोमाय्यः संसृष्टा भवन्ति अग्रेषु धिन्बन्ति । तर्हि हि सरसः भवन्ति' श. ब्रा. 3/6/1/7

अन्तरिक्षा और पृथ्वी इन तीनों लोकों में शक्ति एवं तेज से युक्त रहे, क्योंकि ब्रह्मण के अनेक कथनों के अनुसार यूप यजमान का स्पष्ट है।

मंत्रोच्चारण पूर्वक प्रोक्षणा से बचे हुए जल को, कुशाओं को, प्रथमशक्ल को और धूताहुतियों को अवट में डालना निश्चित ही अवट को संस्कृत करना है। यह संभावित है कि अवट का सम्बन्ध पितरों से है। शतपथ ब्रह्मण का स्पष्ट कथन है कि 'जो अवट छानेवाला जाता है वह पितृदेवों का है'।<sup>2</sup> हरिस्वामी का मत है: कि 'पित्र्यकार्य में प्रायः गर्त प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। अतः उक्त अवट में पितृ-षदन का भाव है'।<sup>3</sup> जब अवट पितरों से सम्बन्धित सिद्ध हो गया तो यथमिश्रित जलों का उस में डालना, कुशा का डालना, स्वतः स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि यव पितरों का द्रव्य है<sup>4</sup> और पित्र्यकार्य में कुशा का प्रयोग अपरिहार्य है<sup>5</sup>। कुशा को गद्दे के मुँह तक हसलिये रखा

1. (क) 'यजमानो वा एष निदानेन-यद्युपः' वही, 3/7/1/1।

(ङ) 'यजमान निष्पाद्यस्य यागस्य युवेनापि निष्पाद्यत्वात् तत्सिद्धिधान्यायाद् यजमान एव यूपत्वेनोपचर्यते' स. भा. 3/7/1/1।

(ग) 'यूपमभिर्ता वदतः । यजमानो वै यूपः । यजमानमेवैतत्तेजसा च ब्रह्मवर्चसेन बोधयतः परिधात्तः।' श. ब्रा. 13/2/6/9;

(घ) 'यजमानो वा अग्निष्ठा' श. ब्रा. 3/7/1/16;

2. 'पितृदेवत्या वै कूपः छातः' श. ब्रा. 3/6/1/13; 3/7/1/6;

3. 'प्रायेण गर्तस्य पित्र्यकार्येषु दर्शनादवटस्य पितृषदनत्वम्।' हरिभा. 0 वही, 3/6/1/13

4. (क) 'तिलैर्ब्रीहि-यवैर्माषैरदिभामूलफलैर्न वा ।

दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिबत् पितरौ नृणाम्। मनु03/267

(ङ) 'कृष्णाः माषास्तिताश्चैव श्रेष्ठाः सूर्यवशात्तयः' वायुपुरा 0 उद्धृत मन्व 0 मुपु 0 167.

5. 'अपराह्णास्तथा दभार् वास्तुसंपादनं तिता ।

सष्टिर्मुष्टिर्देवजाश्चागयाः आद्धा-कर्मसु सम्पदः ।।' मनु03/255

जाता है कि उस के अन्तर्भवर्ती यूप के भाग को ब्राह्मण पितरों से सम्बन्धित मानता है<sup>1</sup>। कुशों को डालते समय बोले जाने वाले मन्त्र में कुशों को पितरों का आवास बताया गया है<sup>2</sup>। अतः यूप के नीचे कुश बिछा कर और ऊपर तक उसको कुश-युक्त कर, माना पितरों के आवास में स्थापित कर रखा है। यूप यजमान का स्म भी तो है। अतः इस विधि से मानो स्वयं यजमान पितरों के आवास से शक्ति ग्रहण कर रहा है।

यूपशक्त को अबट में डालने में भाव यह रहा हो सकता है कि वह अपने को तैज-युक्त कर रहा है। क्योंकि यह 'शक्त' वनस्पति की जात है। डाल के हटा देने पर ब्राह्मण वनस्पति के सूखा जाने की बात कहता है<sup>3</sup>। अतः अबट में शक्त डाल कर वनस्पति को तैज-युक्त करता है<sup>4</sup>। किन्तु वनस्पति (यूप) वह स्वयम् है। अतः अपने को तैजयुक्त करता है। 'प्रथमशक्त' को ही अबट में इसलिये डालता है क्योंकि वह मंत्रोच्चारण के साधन काटा गया था<sup>5</sup>। अतः वही पश्वि है, अन्य द्वितीय, तृतीय शक्त नहीं। इसे यूप में ऊपर न बांधकर अबट के अन्दर संभवतः इसलिये डालता है कि समस्तयूप, विशेष कर उसका अबट में दबने वाला भाग, तैजयुक्त रह सके।

1. 'पितृदेवर्त्य वा अस्या एतद् भवति यन्निष्ठातम्।' श. ब्रा. 3/6/1/14;

3/7/1/7;

2. 'पितृषदनमसि' वा. सं. 5/26

3. 'तैजो ह वा एतद् वनस्पतीनां यद् बाह्याशक्तः। तस्माद्यदा बाह्याशक्तमपतक्ष्णुवन्ति अथा शुष्यन्ति। तैजो ह्येषामेतत्।'

श. ब्रा. 3/7/1/8

4. श. ब्रा. 3/7/1/11; 3/7/1/16; 13/2/6/9.

5. श. ब्रा. 3/6/4/10, 11; वा. सं. 5/42; का. 0. 0. सू. 6/1/12, 13.

अवट में धूताहुति दी जाती है। संभावित इसलिये कि बुराई को नीचे ही नष्ट किया जा सके। क्योंकि ब्राह्मण की दृष्टि में घी बज्र है। वह उक्त विधि में बज्र से राक्षासों के वध का उत्सव हुआ मानता है। 'राक्षास' बुराई का प्रतीक है। अतः अवट में घी डालना उसी प्रकार का कार्य है जैसे मूस्त से पापी को मार डालना। घी अवट में डाला जा रहा है। अवट भूमि से नीचा होता है। बुराईयाँ भी नीचे से ही निकलती हैं। अतः बुराईयाँ को मूल में ही कुचल देना चाहता है।

यजमान यूप को धूत<sup>करता</sup>तिष्ठ<sup>1</sup> है। संभावित इसलिये कि वह अपने को संसार की समस्त समृद्धि से युक्त करना चाहता है। क्योंकि यूप उसी का स्म<sup>2</sup> है। घी सार है। अतः 'मधु' है। ब्राह्मण की दृष्टि में 'जो कुछ दीठा रहा है वह सब मधु है'। यह पृथ्वी समस्त भूतों का मधु<sup>3</sup> है।<sup>4</sup> अतः यूप में आज्य लगा कर मानो वह पृथ्वी पर स्थित समस्त देवताओं से अपने को सम्पन्न करता है।

यजमान चषात को अन्दर और बाहर से धूत तिष्ठ कर यूप पर स्थापित करता है। चषात का उभयतः धूत तिष्ठ किया जाना वनस्पतियों के सर्वतः मधुर फल युक्त होने की कामना के सदृश है। वह चषात को यूप के अग्रभाग में संभावित इसलिये स्थापित करता है कि वनस्पतियों पर हुए फल अग्रभाग में ही आते हैं। वह यूप को उठाता है। अवट में रखा जाता है। अवट को मिट्टी से भरता है। कई बार में मिट्टी को दबाता है। उस पर जल छिड़कता है। ये सभी कार्य सामयिक हैं। अतः स्पष्ट है।

यूप के स्थापित हो जाने पर यजमान उसका स्पर्श करते हुए

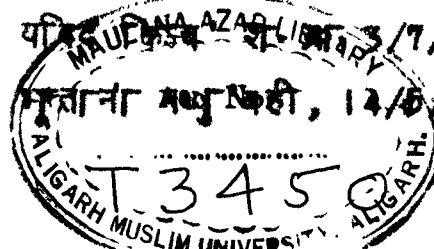
1. 'बज्रो वा आज्यं तत् बज्रेणैवेतत् नाष्टा रक्षास्यवबाधाते'

श. बा. 3/7/1/10

2. वही, 3/7/1/11; 3/7/1/16; 13/2/6/9;

3. 'सर्वं वा इदं मधु यदिह' श. बा. 3/7/1/11;

4. 'इयं पृथ्वी सर्वेषां भूतानां मधु' वही, 12/6/5/1;





'विष्णोर् कर्माणि' मंत्र का उच्चारण करता है। ब्राह्मण स्थापित यूप को वज्र का प्रसार कहता है<sup>1</sup>। अतः स्थापित यूप इन्द्र के वज्र का स्म हुआ<sup>2</sup>। किन्तु यूप प्रत्येक यज्ञ में रहते हैं। अतः ब्रह्म इन्द्र यज्ञसामान्य का देवता हुआ। किन्तु यूप को विष्णु का स्म भी माना गया है। अतः सभी यज्ञों के यूपसामान्य का अधिष्ठातृ-देव विष्णु हुआ। अश्वमेध जैसे यज्ञविशेष के यूप स्थापन के प्रसङ्ग में विष्णु सम्बन्धी मंत्र बोला जा रहा है। अतः कह सकते हैं कि 'यूप-स्पर्श-विधि' के माध्यम से यूपसामान्य के अधिष्ठातृ-देव विष्णु का यज्ञसामान्य के अधिपति ब्रह्म इन्द्र से योग कराया जाता है। मंत्र में 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' पद संयुक्त करने का रहस्य भी यही है।

यजमान वधात को देता है हुए तद् विष्णोर् मंत्र का उच्चारण करता है। यूप विष्णु का स्म है। अतः यूप पर स्थात वधात विष्णु का मधुर मधु युक्त 'परमपद' हो सकता है। यूप शत्रुवध के लिये उद्यत इन्द्र का वज्र भी है। इन्द्र के उद्यत वज्र-स्म इस यूप पर स्थात विष्णु के परमपद-स्म वधात को शूरवीर-स्म यजमान ही देता है। यजमान के शत्रु विष्णु-सखा इन्द्र के उद्यत वज्र(यूप) के भाव से उसे (-विष्णु के परमपद स्म वधात को-) देवाने में सक्षम नहीं है।

### यूप से यूप की दूरी

अश्वमेध में यूप से यूप की दूरी के सम्दर्भ में एक विद्वत्-समुदाय का मत है कि कात्यायन के 'एकदशिनीवदेकविंशतिर्युपाः'

1. 'वज्रं वा एषा प्राज्ञा धीर्दि यां यूपमुदशिश्रियत्' श. भा. 3/7/1/18

2. 'वज्रो वै यूपः' वही 3/7/1/14

3 (क) 'वैष्णवा हि यूपः। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञाय ह्येन वृश्चति' वही, 3/6/4/9;

(ख) 'यूपं ब्रह्मन् वैष्णव्यर्वा जुहोति। वैष्णवा हि यूपः। तस्मा-  
द्वैष्णव्यर्वा जुहोति' वही, 3/6/4/1;

सूत्र से कात्यायनश्रौतसूत्र के 'रथाक्षामात्राण्यन्तराणि' (8/8/6) से लेकर 'यथाछातमुच्छ्रयति' (8/8/18) तक के तैरेह सूत्र अतिदेश से प्राप्त होते हैं<sup>1</sup>। इस मत के अनुसार अश्वमेध के यूप 'रथाक्षामात्रान्तर' या 'वेदिपूर्वाद्धा समविभागान्तर' या 'पक्षासम्मित वेदिपूर्वाद्धा समविभागान्तर' होने चाहिये। किन्तु इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि जिन 'रथाक्षामात्राण्यन्तराणि' आदि सूत्रों के अतिदेश से प्राप्त होने की बात कही जा रही है उसी में सबसे पहले सूत्र में, कहा गया है कि यदि यज्ञ में यूपों की सम्पूर्ण संख्या 'ग्यारह' होती है तभी यूपान्तरात् 'रथाक्षामात्र' - एक सौ चार अंगुल होता है<sup>2</sup>। 'पूर्वाद्धा वा सम विभाज्य' (8/8/7) और 'पक्षासम्मिता वाऽग्नौ' (8/8/8) 'सूत्र' यूपैकादशिनी वेदरथाक्षामात्राण्यन्तराणि (8/8/6) सूत्र के तुरन्त बाद में लिखे गये हैं। अतः इन दोनों में 'यूपैकादशिनीवेत्' अनुवर्तित हो रहा है। अतः 'वेदि पूर्वाद्धा सम विभाग' और 'पक्षासम्मित वेदि पूर्वाद्धा सम विभाग' ये दोनों यूप-अन्तरात् सम्बन्धी विकल्प भी तभी प्रयुक्त किये जा सकते हैं जब यज्ञ में यूपों की सम्पूर्ण संख्या ग्यारह रहे। किन्तु अश्वमेध में यूपों की सम्पूर्ण संख्या ग्यारह न होकर दक्कीस होती है<sup>3</sup>। कात्यायनश्रौतसूत्र या शतपथ ब्राह्मण

1. 'एकादशिनीवेदित्यतिदेशेन रथाक्षामात्राण्यन्तराणि पूर्वाद्धा वा सम विभाज्य पक्षासम्मितावाऽग्नौ यूपा इत्ययभ्यादानादि यथाछातमुच्छ्रयतीत्यन्तमतिदिश्यते' गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वे० प्रे०, बम्बई, पृ० 2914.

2. 'यूपैकादशिनीवेदरथाक्षामात्राण्यन्तराणि' का० श्रौ० सू० 8/8/6.

3. (क) 'एकविंशतिर्यूपः'। सर्वे एकविंशत्यरत्नयः 'श. ब्रा.' 13/4/4/5

(छ) का. श्रौ० सू० 6/1/31; 20/4/16.

में किसी भी स्थल पर यह उल्लेख नहीं हुआ है कि ग्यारह यूपों से अधिक यूप वाले यज्ञ में भी उपर्युक्त तीनों माप या इन में से कोई भी एक माप प्रमाण मानी जाय। अतः अश्वमेध में यूप से यूप की दूरी न तो 104 अंगुल मानी जा सकती है, न वेदी के पूर्वार्द्ध के ग्यारह समविभागों की माप के बराबर मानी जा सकती है और न पञ्चासम्मित वेदी के पूर्वार्द्ध के ग्यारह समविभागों की माप के बराबर ही।

शतपथ ब्राह्मण अश्वमेध के यूप-अन्तराल (यूप से यूप की दूरी) का कोई उल्लेख नहीं करता। केवल बल्मीकिरामायण में एक ऐसा उल्लेख अवश्य आता है जहाँ अश्वमेध के अग्निष्ठ-यूप से उस के पास के यूप की दूरी दोनों भुजाओं को फैलाने से बनने वाली दूरी के बराबर बताई गई है<sup>1</sup>। किन्तु अग्निष्ठ से उस के पास के यूप की उक्त दूरी भी उचित प्रतीत नहीं होती। अग्निष्ठ-यूप पर पर्यङ्ग्य-पशुओं के साथ अश्व, दो एकदशिनी पशु और बारह रोहितादि पशु बंधाते हैं<sup>2</sup>। इन पशुओं में कई अश्व के ही सम्मान विशालकाय पशु हैं। अग्निष्ठ के पास वाले यूपों पर सोलह-सोलह पशु बंधाते हैं<sup>3</sup>। दोनों यूपों से बनने वाले अन्तराल में तेरह अरण्य-पशुओं का आलम्बन करने का विधान है<sup>4</sup>। दोनों भुजाओं के फैलाने से बनने वाली दूरी इन सब पशुओं का आलम्बन करने के लिये किसी भी दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। अश्वमेध के यूप से यूप की दूरी अस्पष्ट है।

1. 'श्लेष्यातक्रमयो दिष्टो देवदास्मयस्तथा।

द्वौवेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥ वा०रा०, ब०क० 14/23

2. श. ब्रा. 13/2/2/13

3. वही।

4. 'त्रयोदश त्रयोदशारण्यानाकशेष्यालभते' वही, 13/5/1/15

## III

### वेदी पर यूपों की स्थिति और उनसे बने अन्तराल

अश्वमेध की वेदी पर यूपों की स्थिति के सन्दर्भ में तैत्तिरीय-संहिता का कहना है 'अश्वमेध में इक्कीस यूप होते हैं, दक्षिण और उत्तर भाग में दस-दस यूप होते हैं एवं इक्कीसवाँ यूप अग्निष्ठ इन सबके मध्य में होता है'। वेदी पर यूपों की स्थिति के सन्दर्भ में शतपथ-ब्राह्मण का कहना है कि ये यूप इक्कीस होते हैं। रज्जुदात का यूप, जिसे तैत्तिरीय-संहिता उमर मध्यमयूप बता चुकी है और जो शतपथ में भी अनेक स्थानों पर 'मध्यम' यूप कहा गया है, अग्निष्ठ संज्ञक होता है। अग्निष्ठ के दोनों ओर, एक-एक यूप देवदार लकड़ी का होता है। छः यूप क्लिव के होते हैं जो दोनों ओर तीन-तीन की संख्या में होते हैं और देवदार के यूप के पीछे गड़े होते हैं। छः यूप छादिर के होते हैं जो दोनों ओर तीन-तीन की संख्या में क्लिवयूपों के पीछे गड़े होते हैं। छः यूप पाताश के होते हैं जो दोनों ओर तीन-तीन की संख्या में छादिर के यूपों के पीछे गड़े होते हैं<sup>2</sup>। कात्यायन ने 'रज्जुदातौ मध्ये'; 'अभितः पैतुदारवा'; 'षट् षट् क्लिव-छादिर-पाताशाः' और 'त्रयस्त्रयाऽभितः' इन चार सूत्रों को तिठाकर यूपों की वेदी पर स्थिति के सन्दर्भ में शतपथ की व्यवस्था को ही यथावत् स्वीकार किया है उन्होंने इनकी स्थिति के सन्दर्भ में कोई नई बात नहीं जोड़ी है। बाद के सभी आचार्य शतपथ और कात्यायन-श्रौत-सूत्र को प्रमाण स्म में स्वीकार करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है

1. 'अश्वमेधस्य छातु एकविंशतिर्यूपः। दक्षिणात्तरभागयोः दश-दश

मध्ये एकविंशति परः उद्दात वृक्षाजो यो यूपः सोऽग्निष्ठः।'

तै० सं० 26/1 .

2. श. ब्र. 13/4/4/5

3. का. श्रौ० सू० 20/4/17, 18, 19, 20;

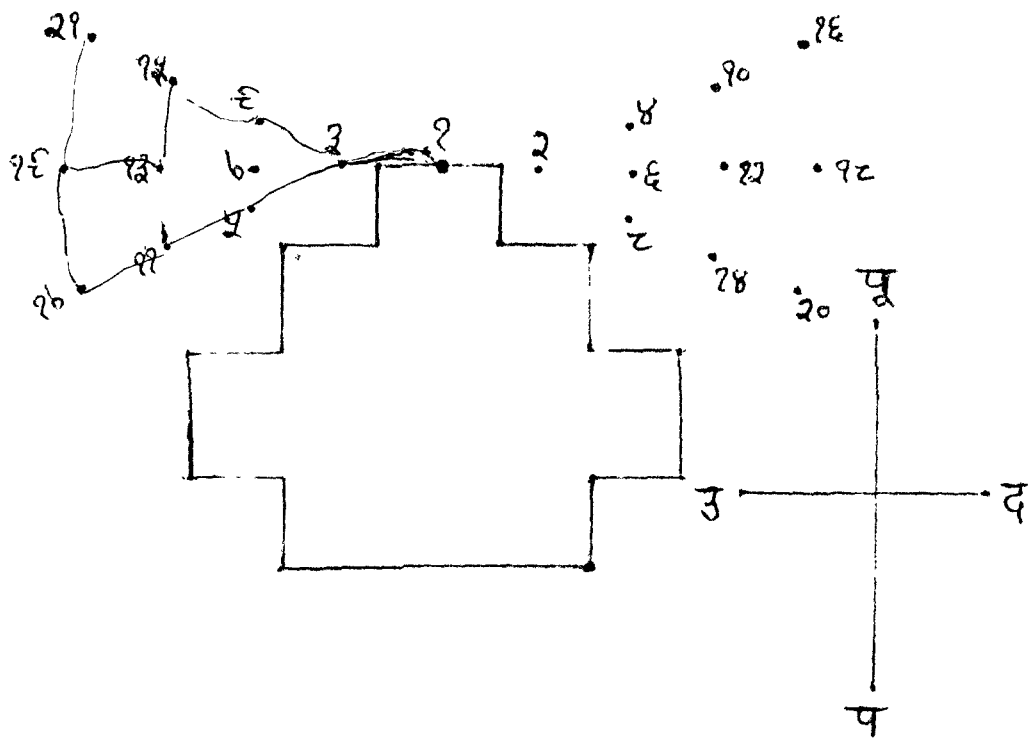
'त्रयोदशत्रयोदशारण्यानाकाशैष्वात्मै'।<sup>1</sup> इस वाक्य में दस यूपों से बने मध्य के अन्तराल को 'आकाश' कहा गया है और उसे अरण्यपशुओं के आलभन के निमित्त प्रयुक्त करने का विधान है। संभवतः ब्रह्मण के इसी वाक्य को आधार बनाकर महीधर ने कहा था 'अत्रैकविंशतिर्यूपः तैषां यूपानां विंशति अन्तरालानि। तैष्वन्तरालेषु अन्तरालोत्पत्ति-क्रमेण कपिञ्जलादयः त्रयोदश त्रयोदश पशवः आलम्बनीयाः'<sup>2</sup>। अतः अरण्यपशुओं के आलभन का आधार बनने के कारण यूपों के साध-साध वेदी पर इन बीस अन्तरालों की स्थिति की समझना भी आवश्यक है। वेदी पर इक्कीस यूप और बीस अन्तरालों की स्थिति-आगे दिये गये रेखा-चित्र से सुविधापूर्वक समझी जा सकती है।

. . . . . आगे रेखाचित्र

1- श. ब्रा. 13/5/1/15

2- म. भा. 0, ब. 0 सं. 24/20;

## अश्वमेध की वेदी और यूप



नोट : वेदी पूर्वोभिमुख होती थी

जुलैअस इगतिंग अश्वमेध की वेदी पर यूपों की स्थिति एक सीधी रेखा में मानते हैं<sup>1</sup>। किन्तु यूपों की स्थिति के सन्दर्भ में उनका यह मत वाल्मीकि-रामायण और महाभारत में वर्णित दशरथ एवं युधिष्ठिर के अश्वमेधों में वेदी पर रही यूपों की स्थिति के आलोक में असमीचीन सिद्ध हो जाता है। राजा दशरथ के अश्वमेध के यूपों के सन्दर्भ में वाल्मीकि-रामायण का कहना है 'आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः। सप्तर्ष्या दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि'।<sup>2</sup> युधिष्ठिर के अश्वमेध के यूपों के सन्दर्भ में महाभारत का कहना है 'तै व्यराजन्त राजर्षीर्वासोभिस्मशोभिः। महेंद्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि'।<sup>3</sup> 'इन दोनों ही उल्लेखों में वेदी पर यूपों को सप्तर्षिमण्डल के रूप में स्थित हुआ बताया गया है। रेखाचित्र में वेदी की ओर से देखने पर 1,3,5,11,13,17 और 19 वें यूप एवं 1,2,8,12,14,18 और 20 वें यूप आकाश में स्थित सप्तर्षिमण्डल के रूप में दीखते हैं। वेदी के सामने की ओर से देखने पर 1,3,9,13,15,19 और 21 वें यूपों, एवं 1,2,4,10,12,16 और 18 वें यूपों की स्थिति भी सप्तर्षिमण्डल की आकृति ग्रहण करती है। रेखाचित्र में यूपों के लिये नियत किये गये अङ्क शास्त्र-सम्मत हैं<sup>4</sup>। इगतिंग भी यूपों को नियत किये गये अङ्कों से सहमत हैं<sup>5</sup>। अतः कहा जा सकता है कि वेदी पर अश्वमेध के यूपों की स्थिति इसी रूप में मानना उचित है।

1. से. बु. आ. ई. सी०, शत० ब्रा०, प० भा०, पृ० 301, पा. ठि सं 2.

2. बा. रा., बा. सं. 24/27 ।

3. महा० भा०, अश्व० प०, 88/30 ।

4. तै० सं, 26/1

5. से. बु० आ० ई० सी०, शत० ब्रा०, प० भा०, पृ० 309, पा. ठि सं 2 ।

## यज्ञपुरुष की परिकल्पना

संभवतः ऋग्वेद के 'सहस्रशीर्षा पुरुष' के संस्कारों से प्रभावित होकर शतपथ ब्राह्मण ने 'यज्ञ-प्रजापति' या 'यज्ञ-पुरुष' की कल्पना की थी। अश्वमेध की वेदी और उस पर यूपों की निश्चित स्थिति को हम इस कल्पना को मूर्त रूप देने की दिशा में एक सफल प्रयास कह सकते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार सहस्रशीर्षा पुरुष के शरीर के अक्षयों के हवन से इस परिदृश्यमान ब्रह्माण्ड का सर्जन हुआ है।<sup>2</sup> प्राणिजात, पृथ्वी, आकाश, दिशायें और सूर्य-चन्द्रादि उसी के कार्य हैं।<sup>3</sup> वह इन सब का आदि कारण है। कार्य इस ब्रह्माण्ड और कारण-उस सर्वज्ञ पुरुष के परस्पर सम्बन्ध के विषय में ऋग्वेद का कहना है 'ततो विराडजायत विराजो अधि पुरुषः'<sup>4</sup> बाद के उपनिषद्-साहित्य ने सृष्टि के स्रष्टा को सृष्टि के अन्तर सृष्टि में ही प्रवेश करता हुआ बताकर<sup>5</sup> यह और भी अधिक स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि से पृष्ठा स्रष्टा का दर्शन कर पाना बहुत ही कठिन है। किन्तु स्रष्टा को समझने या देख-पाने की दिशा में ऋग्वेद ने संकेत किया था: 'यज्ञे य ज्ञयजन्त देवा-स्तानि धामाणि प्रथमान्यासन्'<sup>6</sup>। ऋग्वेद के इस संकेत के आधार पर सरलता पूर्वक कहा जा सकता है कि उस काल में ही 'यज्ञ-सृष्टिकर्ता' के पूजन के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

1. देहोः श. ब्रा., सै०कु वा. ई. सी., भाग 4, मू. आ., पृ. सं. 15

2. अ. 10/90/5,

3. वही, 10/90/6, 7, 8, 12, 13;

4. वही, 10/90/5

5. 'इदं सर्वमसृजत् यदिदं किंच तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्'। उप. 2/6/1

6. अ० 10/90/16;



ऋग्वेद ने सहस्रशीर्षा पुरुष की कल्पना अवश्य की, किन्तु वह उसे ऐसा मूर्त-रूप प्रदान नहीं कर सका जो यज्ञ-रूप में उसके पूजन का आधार बन सकता। ऋग्वेद ने ~~सहस्रशीर्षा~~ इस आवश्यकता को दृष्टि में रखा और ही 'यज्ञपुरुष' या 'यज्ञप्रजापति' की कल्पना की होगी। ऋग्वेद की दृष्टि में अश्वमेध की वेदी और उस पर निश्चित व्यवस्था में स्थापित इक्कीस यूप इस 'यज्ञपुरुष' का पाञ्चभौतिक शरीर हो सकते हैं और उक्त यूपों में आलभन किये जाने वाले अग्नी-कौमीयपशु इस यज्ञपुरुष के प्राण।

'यज्ञप्रजापति' की पौरकल्पना में अश्वमेध की वेदी को हम यज्ञप्रजापति का सिर-स्थानीय कह सकते हैं यह इसलिये कि वेदी ही यज्ञ के प्रधान साधन अग्नि का आधार होती है। प्रज्वलित अग्नि से युक्त वेदी की शोभा उषा की रक्ताभ ज्योतिर्यैसी होती है। ऋग्वेद की दृष्टि में उषा अश्वमेध का सिर<sup>2</sup> है। साधा<sup>3</sup> ही उसकी दृष्टि में प्रजापति और अश्वमेध में तादात्म्य है, दोनों एक हैं। जब प्रज्वलित अग्नि से युक्त वेदी और उषा में तादात्म्य है, और अश्वमेध एवं प्रजापति में तादात्म्य है तब उषा के अश्वमेध का सिर कहे जाने के कारण हम अश्वमेध की वेदी को प्रजापति का सिर स्थानीय भी सुलभता पूर्वक कह सकते हैं।

वेदी को यज्ञप्रजापति का सिर-स्थानीय देखा लेने के बाद हम पाते हैं कि ऋग्वेद नासिका को समस्त प्राण-वायुओं का केन्द्र<sup>4</sup> कहता है। उसके अनुसार रज्जुदात-वृक्षा मृत प्रजापति के नासिका-

1. 'तस्मिन्नेकविंशतिमग्नीषामीयान् पशूनात्मते' श. ऋ. 13/4/4/11.

2. 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' श. ऋ. 10/6/4/1

3. (क) 'प्रजापतिरश्वमेध' वही, 13/2/2/13; 13/4/1/15

(छा) 'सोऽश्वमेध । एषः प्रजापति । एवमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नं संस्कृत्य' वही, 13/4/4/11

4. 'मध्यमेतत्प्राणानां यन्नासिके' वही, 13/4/4/6

रन्ध्रों से बहे स्तैष्म से उत्पन्न हुआ है<sup>1</sup>। ऋग्वेद के ये दोनों उत्तेजा उत्साहित करते हैं कि अश्वमेध की वेदी पर ठीक उमर और अन्य सभी यूपों के ठीक मध्य में स्थित रज्जुदात निर्मित अग्निष्ठ-यूप को प्रजापति के प्राणों को मूर्त आधार प्रदान करने के हेतु से उसकी नासिका के रूप में स्थापित किया हुआ मान लिया जाय; क्योंकि वह अपनी उत्पत्ति और स्थािति से प्रजापति की नासिका को प्रतीकायित करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

अग्निष्ठ से बाहर की ओर गाड़े गये देवदार के दोनों यूप प्रजापति के दोनों नेत्रों को प्रतीकायित कर रहे हो सकते हैं। क्योंकि नेत्र नासिका के दोनों ओर बाहर को ही होते हैं। ऋग्वेद देवदार को प्रजापति के निष्प्राण उच्छून शरीर से नेत्रों के माध्यम से, बहे आपोमय तेज से उत्पन्न हुआ बताता है<sup>2</sup>। अतः प्रजापति के नेत्रों से उत्पन्न होने के कारण भी देवदार के यूप उसके नेत्रों को प्रतीकायित करने में समर्थ है।

किन्व के यूप प्रजापति के अक्षि-स्थानीय देवदार के यूपों से बाहर की ओर होते हैं<sup>3</sup>। मुँह पर कान भी ओछा<sup>वा</sup> से बाहर की ओर ही होते हैं। अतः स्थािति की दृष्टि से किन्वयूपों को प्रजापति के दोनों कानों को प्रतीकायित करने बता कल जा सकता है। ऋग्वेद ने किन्व को प्रजापति के निष्प्राण शरीर से कानों के माध्यम से बहे मज्जा से उत्पन्न हुआ कहा है<sup>4</sup>। अतः स्थािति के अतिरिक्त अपने उत्पत्तिस्थान

1. 'प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमश्रियन्त । तस्य यः स्तैष्मा सीत् स सादर्धा' समवदुत्य मध्यतां नस्त उदभिनत् । स एष वनस्पतिरभवत् रज्जुदातः । ' वही;
2. 'अथा यदापोमयं तेज आसीत् यो गन्धः स सादर्धा' समवदुत्य चक्षुष्ट उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवत् पीतुदारु ' श. ऋ. 13/4/4/7
3. 'अन्तरे पैतुदारवो भवतः ' वही 13/4/4/8
4. 'अथा यत् कुक्षपमासीत् यो मज्जा स सादर्धा' समवदुत्य अत्रत उदभिनत् स एष वनस्पतिरभवत् किन्वः 'वही ।

की दृष्टि से भी क्लिव के यूप प्रजापति के कानों को मूर्तस्व देने के लिये गाड़े गये हो सकते हैं ।

दोनों ओर के क्लिव-यूपों से बाहर की ओर तीन-तीन की संख्या में छः छादिर के यूपों की स्थािति रहती है<sup>1</sup>। ऐसा संभावतः इसलिये किया जाता है कि आहुमण प्रजापति की नासिका, नेत्र और कर्णों को, जिन्हें वह क्रमशः रज्जुदात, देवदार और क्लिव के यूपों से उमर प्रतीकयित कर चुका है, एक सुदृढ़ आधार प्रदान करना चाहता है । नासिका, नेत्र और कर्णों के लिये सुदृढ़ आधार प्रजापति के शरीर में अस्थियाँ का होना है । अतः माना प्रजापति के उपरि प्रस्तावित अङ्गों को अस्थियाँ का सुदृढ़ आधार प्रदान करने के उद्देश्य से ही छादिर के यूप गाड़ता है, क्योंकि छादिर अस्थि की शक्ति ही उत्पन्न कठोर है<sup>2</sup>। क्लिवयूप वेदी पर छादिर के यूपों से भीतर की ओर गढ़े होते हैं<sup>3</sup>। क्लिव का सम्बन्ध मज्जा से है<sup>4</sup>। मज्जा अस्थि में भीतर की ओर होती है । अतः मज्जा-स्थानीय क्लिव के यूपों से बाहर की ओर गढ़े छादिर के यूप अपनी स्थिति से भी प्रजापति की अस्थियों को प्रतीकयित करने में सक्षम हैं । शतपथ ने छादिर की उत्पत्ति अस्थि से मानी है । अतः अपने उत्पत्ति-स्थान के बल पर भी छादिर प्रजापति की अस्थियाँ का प्रतीक बन सकने की स्थिति में है ।

1. 'षट् छादिराः । त्रय एवेत्थात् । त्रय इत्थात्' वही, 13/4/4/5

2. 'स दास्यां बहुसारः दास्यामिबहुयस्थि' श. ब्र. 13/4/4/9

3. 'अन्तरे क्लेवाः भवन्ति बाह्ये छादिराः' वही ।

4. वही, 13/4/4/8

5. 'अस्थिभ्य एवास्य छादिरः समभवत्' वही, 13/4/4/9

आदिर के यूपों से भी पीछे दोनों ओर पताश के तीन-तीन यूप संभवतः इसलिये गाड़े जाते हैं कि प्रजापति के शरीर की अस्थियाँ को मांसयुक्त कर सके, क्योंकि शरीर में कहीं भी अस्थि मांस और रक्त से रहित नहीं होती। पताश की उत्पत्ति मांस से है। उस का वर्ण और रस मांस के वर्ण और रस(रक्त) के सदृश है। अतः वह प्रजापति की अस्थियाँ का मांस बन सकने में समर्थ है।

वेदी और यूपों के माध्यम से प्रजापति के कार्त्तिक शरीर को मूर्त आकार प्रदान करके ब्रह्मण अन्त में उस में प्राणसंचार करना चाहता है। उसका कहना है 'एष प्रजापतिः। एषमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नं संस्कृत्य तस्मिन्नैकविंशतिमग्नीभाषीयान् पशूनालभते'<sup>2</sup>। ब्रह्मण के इस कथान में प्रजापति के मूर्तशरीर(वेदी और यूप) के तैयार हो जाने के बाद उसमें अग्नि और सोम के निमित्त निश्चित पशुओं का आलभन करने का विधान है। किन्तु ऋग्वेद में अग्नि 'भावेत्ता'<sup>3</sup> और सोम 'भागेय'<sup>4</sup> के रूप में वर्णित हुआ है। स्वयम् शत-पथा की दृष्टि में सोम अन्न है और अग्नि अन्नाद है<sup>5</sup>। उपनिषदें अग्नि और सोम को कहीं प्राण और रयि कहती हैं<sup>6</sup> तो कहीं अन्नाद और अन्न कहती हैं<sup>7</sup>। अतः कहा जा सकता है कि ऋग्वेद से लेकर उप-निषदों तक के समस्त वैदिक साहित्य के विस्तार में अग्नि कर्तृत्वशक्ति

1. 'मासेभ्य एवास्य पताशः समभवत् । तस्मात् स बहुरसो लोहितरसः ।

लोहितमिव हि मांसम् ।' वही, 13/4/4/10

2. वही, 13/4/4/11

3. 'मया साऽन्नमत्ति' ऋ0 10/125/4

4. 'अहं सोममाह्नसं विभार्मि' ऋ0 10/125/2

5. 'सोम एव अन्नमग्निरन्नादः' श. भा. 14/4/2/13

6. प्रश्नो0 1/4,5;

7. तै0 उप0 3/10/6; बृह0 5/12/1;

का और सोम भाक्त्वशक्ति का प्रतीक है। उपनिषदों में कर्तृत्व-शक्ति और भाक्त्वशक्ति का समन्वित स्म सिद्धायुक्त समष्टि-वैतन्य है<sup>1</sup>। हिरण्यगर्भ, प्रजापति, सूत्रात्मा, ईश्वर और ईशान आदि इस सिद्धायुक्त समष्टिवैतन्य के ही विभिन्न अभिधान हैं। कर्तृत्व-शक्ति और भाक्त्वशक्ति के प्रतीक इन अग्नि और सोम के परस्पर संयोग को महाभारत में स्पष्ट शब्दों में 'प्राणा' कहा गया है।<sup>2</sup> व्यवहार में भी देखाने में आता है कि ऊर्जा और रस के अभाव में प्राण जीवनतत्त्व—ठहर नहीं पाता। अतः कहा जा सकता है कि अग्नि और सोम के निमित्त पशुओं के आत्मन का विधान करके ब्रह्मण यज्ञ-प्रजापति के, वेदी और यूपों के स्म में, मूर्त आकार को प्राप्त हुए शरीर में जीवनतत्त्व का-प्राणा को-संचार कर रहा है और इस प्राणायुक्त प्रजापति का प्राजापत्य-पशुओं के आत्मन आदि के माध्यम से यज्ञ-स्म में यजन करने का संकेत कर रहा है।

\*\*\*\*\*  
\*\*\*\*\*

-----  
1. (क) 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।'

'य सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमर्थं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम स्पृशन्नं च जायते' मुण्डको 1/1/8,9;

(छा) 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रमाणा-प्ययौ हि भूतानाम्' माण्डू 1 उपो 6;

2. 'तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राणा आततः' म. भा., उद्गी 1

†-----†  
|\*\* चतुर्थ-अध्याय\*\*  
|\*\*\*\*\*  
†-----†

## अश्वमेध के देवतापशु और उनका प्रतीकविधान

### -एकविंशअश्व के साम्य पशु-

अश्वमेध में पशुओं के आत्मन एवं संज्ञपन(बलिदान) सम्बन्धी उत्प्रेक्षा वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। वैदिक चिन्तन-धारा का लम्बा इतिहास सभी यज्ञों में सामान्य-रूप से और अश्वमेध में विशेष-रूप से पशुबलि दिये जाने की पुष्टि करता है। बुद्ध और महावीर के दर्शन तो विशेष-रूप से यज्ञों में पशुबलि के विरोध के रूप में ही इस भूमि पर उभरे थे। आज हिन्दुओं का एक सुधारवादी वर्ग वैदिक-साहित्य में पशुबलि से सम्बन्धित अंशों का (पलायनवादी) समाधान देने के लिये कृत-संकल्प लगता है। महर्षि दयानन्द को हम इस वर्ग का प्रवर्तक कह सकते हैं। किन्तु तथ्यों से पलायन और शब्दों का अनावश्यक जोड़-तोड़ सचाई को बदल नहीं सकता। यदि हम सब को स्वीकार कर सकें और वैदिक यज्ञों में पशु-आत्मन के धार्मिक और दार्शनिक आधारों का प्रकाश में ला सकें तो संभवतः हम वैदिक-साहित्य और संस्कृति के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में अश्वमेध में आत्मन किये जाने वाले पशुओं का वर्गीकृत उत्प्रेक्षा करना और उनके आत्मन के मूल में रहने वाली भावना का प्रकाश में लाना अभीष्ट है।

## I

### अश्वमेध के देवतापशु

वाजसनेयी संहिता के सम्पूर्ण चौबीसवें अध्याय में, जिस में चालीस मंत्र हैं, अश्वमेध में आत्मन किये जाने वाले पशुओं का ही उत्प्रेक्षा है। इस अध्याय में अश्वमेध के प्रधान पशु अश्व<sup>1</sup> से लेकर अन्तराक्ष पशु 'पृषत'<sup>2</sup> तक

1. वा. सं. 24/1;

2. 'विश्वेषा देवानां पृषतः' वही, 24/40;

विभिन्न देवताओं के निमित्त 587 पशुओं के आतमान का विधान है। एकादशिनी-पशु, जिन की संख्या 22 मानी गई है<sup>1</sup> और जिनका यूपों में ही आतमान करने का विधान है,<sup>2</sup> वाजसनेयी संहिता के उन्तीसवें अध्याय में दो मंत्रों में वर्णित है<sup>3</sup>। इस प्रकार संहिता के अनुसार अश्वमेध में आतमान किये जाने वाले पशुओं की सम्पूर्ण संख्या  $587 + 22 = 609$  है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अश्वमेध के निमित्त आतमान किये जाने वाले देवता पशुओं की सम्पूर्ण संख्या 733 है। ब्राह्मण प्रथम सुत्या की पूर्व-सन्ध्या में 21 पशुओं का अग्नि और सोम के निमित्त यूपों में आतमान करने का<sup>4</sup> विधान करता है। ब्राह्मण ने प्रथम सुत्या में 22 सवनीय-पशुओं के और तृतीय सुत्या में 24 सवनीय-गायों के<sup>6</sup> आतमान का विधान किया है। प्रथम और तृतीय सुत्या के ये  $22 + 24 = 46$  पशु उन 22 एकादशिनी-पशुओं से पूरी तरह अतिरिक्त हैं जिन का संहिता के उन्तीसवें अध्याय के दो मन्त्रों<sup>7</sup> में उल्लेख हुआ है; और जिनका 'सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूप आतमते' 'षाडश षाडशैतरेषु' इन दो ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा अश्वमेध के मध्यम-दिन में सवनीय-पशुओं के रूप में यूपों में ही आतमान किया जाना आवश्यक है। ब्राह्मण उदयनीया के पूर्ण हो

1. 'द्वैत्वैवैते एकादशिन्यावातमते' श. ब्रा. 13/5/1/3;

2. (क) का. श्री. सू. 20/4/23, 24;

(ग) सं. सा. 20/4/24

3. वा. सं. 29/58, 59;

4. (क) 'एवमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नं संस्कृत्य तस्मिन्नेकविंशतिमग्नीषोमीयात् पशूनातमते। तेषां समानं कर्म। इत्येतत् पूर्वद्युः कर्म'  
श. ब्रा. 13/4/4/11;

(ग) 'प्रतियूपमग्नीषोमीया' का. श्री. 20/4/21;

5. श. ब्रा. 13/5/1/3.

6. वही, 13/5/3/11

7. वही, 13/2/2/13, 13/5/1/15

8. वही, 13/2/2/13, 13/5/1/15



जाने पर 21 'अनूबन्ध्या' पशुओं का बिन्हे इगतिङ्ग नै बन्ध्या गाय माना है<sup>1</sup>, मित्र-वस्त्रा, विश्वेदेवा और बृहस्पति के निमित्त आतमान करने का विधान करता है<sup>2</sup>। उसका निर्णय है कि अश्वमेध के सब प्रकार से पूर्ण हो जाने पर अश्वमेध के यजमान को आगे जाने वाले सम्पूर्ण संवत्सर में क्रमशः अग्नि, इन्द्र, पर्जन्य, मैत्रावस्त्रा, इन्द्रविष्णु और इन्द्रबृहस्पति के निमित्त ३६ पशु प्रति ऋतु के हिसाब से 36 पशुओं से यजन करना चाहिये<sup>3</sup>। इत्तीस ऋतु-पशुओं से उत्तर संवत्सर में सम्पन्न होने वाला यजु अश्वमेध के यजमान को स्वर्ग में प्रतिष्ठित करने वाला बताया गया है। अतः इन ऋतु-पशुओं को भी अश्वमेध का अङ्ग मानना आवश्यक है। 21 अग्नीषोमीय-पशु, 22 प्रथमसुत्या के सबनीय-पशु, 24 तृतीय सुत्या के सबनीय/गो-पशु, 21 अनूबन्ध्या-पशु और 36 ऋतु-पशु मिलकर 124 हो जाते हैं। ब्राह्मण ने संहिता में वर्णित 609 पशुओं को यथावत् स्वीकार किया है<sup>5</sup>। ब्राह्मण और बाद के आचार्यों

1. श. ब्रा. से कु. आ. ई. सी., भाग 5, पृ. 402;

2. 'उदयनीयायां संस्थातायां एकविंशति वशा अनूबन्ध्या आतमेत। मैत्रावास्त्राः विश्वेदेवाः बृहस्पत्याः।' श. ब्रा. 13/5/4/25;

3. 'अथात्तरं संवत्सरमृतुपशुभिर्यजते। षडभिराग्नेयैर्वसन्ते। षडभिरिन्द्रैर्ग्रीष्मे। षडभिः पार्जन्यैर्वा मास्तैर्वा वर्षासु। षडभिमैत्रावस्त्राः शरदि। षडभिरिन्द्रावैष्णवैर्मन्ते। षडभिरिन्द्राबृहस्पतये शिशिरे।' श. ब्रा. 13/5/4/28;

4. 'षट्त्रिंशदेते पशवो भावन्ति। षट्त्रिंशदक्षारा वृत्ती। बृहत्यामधि स्वर्गं लोकं प्रतिष्ठितः। तद्वततो बृहत्यैव चक्षसा स्वर्गं लोकं प्रतिष्ठति।' श. ब्रा. 13/5/4/28.

5. देवों, हरिः भा. 0 13/2/2/13;

के अनुसार 609 पशु अश्वमेध के मध्यमदिन (द्वितीय बुत्या-दिवस) में यूप और यूपान्तरालों में आलभन किये जाने वाले पशु हैं। अतः शतपथ के अनुसार अश्वमेध में आलभन किये जाने वाले देवता-पशुओं की सम्पूर्ण संख्या  $609 + 124 = 733$  है।

अश्वमेध में आलभन किये जाने वाले समस्त देवता-पशुओं को 'मध्यमदिन में आलभन किये जाने वाले पशु' और 'मध्यमदिन से अतिरेक्त दिनों में आलभन किये जाने वाले पशु' इन दो स्थूल विभागों में बाँटा जा सकता है। ब्राह्मण मध्यमदिन में आलभन किये जाने वाले पशुओं को सर्वप्रथम दो प्रधान वर्गों में विभक्त करता है। ये वर्ग हैं- ग्राम्य एवं आरण्य<sup>2</sup>। ब्राह्मण ने इन दोनों वर्गों को क्रमशः 'यूपपशु वर्ग' और 'अन्तरालपशु वर्ग' भी माना है। ब्राह्मण के उक्त विभाजन के

1. वाजसनेयी संहिता, शतपथ-ब्राह्मण और इन दोनों ग्रन्थों के भाष्यकार-महीधर, उच्चट एवं हरि-स्वामी के मत में 'एकविंशजह' में यूप और यूपान्तरालों में आलभन किये जाने वाले पशुओं की संख्या 609 है। कात्यायन और उन के भाष्यकार कर्क इस दिन में आलभन किये जाने वाले पशुओं की संख्या 597 मानते हैं। कात्यायन-श्रौतसूत्र के एक अन्य टीकाकार देवयानिक इस संख्या को 609 मानने के ही पक्ष में है। इस संख्या के सन्दर्भ में कात्यायन और कर्क का पक्ष असमीचीन है। इस मत के अनौचित्य पर अलग से प्रकाश डाला गया है-

शांथा प्रबन्धा पृष्ठ संख्या ..... ।

1. ए '733 की संख्या में वह कुन्ता सम्मिलित नहीं किया गया है जिसे मारकर अश्व के नीचे बहने का विधान है (वा. सं 22/5)। इस संख्या में इष्टिका-पशु को भी सम्मिलित नहीं किया गया है। 'श्व' और 'इष्टिका पशु' देवता-पशु नहीं हैं।

2. 'यद् ग्राम्यान्पशूनालभते । इममेव तैर्लोकं यजमानोऽवस्थो ।

यदारण्यान् । अमुं ते ।' श. ब्रा. 13/2/4/1;

3. वही, 13/5/1/15.

अनुसार आरण्य-पशुओं में आने वाले 260 पशुओं जिन में से 110 पशुओं को वह दशनी-पशु भी कहता है, के अतिरिक्त मध्यमदिन में आलभन किये जाने वाले शेष सभी पशु ग्राम्यवर्ग के पशु हैं ।

कात्यायन-श्रौतसूत्र में ग्राम्यवर्ग के पशुओं को 'पर्यङ्ग्य' 'रोहितादि' और 'एकदशिनी' भेद से तीन उपवर्गों में विभक्त किया गया है । सहिता और ब्राह्मण दोनों ही 'पर्यङ्ग्यवर्ग' में अश्व सहित तूपर गोमृगादि पंद्रह पशुओं को रखाते हैं<sup>2</sup> । ब्राह्मण 'रोहितादि' को 'पवदशिनः' और 'चातुर्मास्याः' इन दो वर्गों में विभक्त करता है<sup>3</sup> । 'पवदशिनी वर्ग' में 'रोहिताः' से लेकर 'धेनवः अतिच्छन्दसे' तक के पशु आते हैं<sup>4</sup> । 'धेनवः अतिच्छन्दसे' से आगे के ग्राम्यपशु 'चातुर्मास्य वर्ग' के पशु हैं<sup>5</sup> । ये वैश्वदेव, वस्त्राप्रघास, साकमेध, महाहवि, पित्र्येष्टि और शुनासीरीय इन छः लघु वर्गों में विभक्त हैं । 'एकदशिनी उपवर्ग' में विभिन्न देवताओं के निमित्त आलभन किये जाने वाले वै बारहस पशु आते हैं जो द्वितीय सुत्या के सवनीय पशु हैं<sup>6</sup>, जो सहिता

1. (क) 'यददशिन आलभते विराजमेव तैर्जमानोऽवस्थो' वही, 13/2/5/3 .

(ख) 'दशसंख्या प्रमाणा येषां ते दशिनः पशवः ।' 'प्रजापतये च वायवे च गोमृगः' इत्येवमादयः । 'हरि० भा० 13/2/5/3 ;

(ग) 'प्रजापतये च वायवे च इत्यत आरभ्य एकदशैवेताः कठिकाः (वा. सं 24/30-40) यासु दश दश पशवः ।'

वही, 13/2/5/4 .

2. (क) वा. सं 24/1

(ख) 'ते वा एते पञ्चदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति ।' श. ब्रा. 13/2/2/10

3. श. ब्रा. 13/2/5/1, 2 ;

4. वा. सं 24/2 से 13 ;

5. 'अथा चातुर्मास्य-देवाः पशवः श्वेतासौर्या इत्यन्ताः' मही० भा० - 24/14

6. 'एकदशिन्यौ सवनीयाः पशवो भवन्ति' का० श्रौ० सूत्र 20/4/23 .

के उन्तीसवें अध्याय के दो मंत्रों में वर्णित हुए हैं<sup>1</sup>, और जिनका एकविंश-  
अह में विशेष क्रम से यूपों में ही आलभान किये जाने का विधान है।<sup>2</sup>

मध्यमदिन-एकविंश-से अतिरिक्त दिनों में विभिन्न देवता-  
ओं के निमित्त आलभान किये जाने वाले पशु अग्नीष्मिणीयपशु, प्रथम-  
सुत्या के सवनीयपशु, तृतीयसुत्या के सवनीयपशु, अनुबन्ध्यापशु और  
ऋतुपशु इन पाँच उपवर्गों में विभक्त हैं।

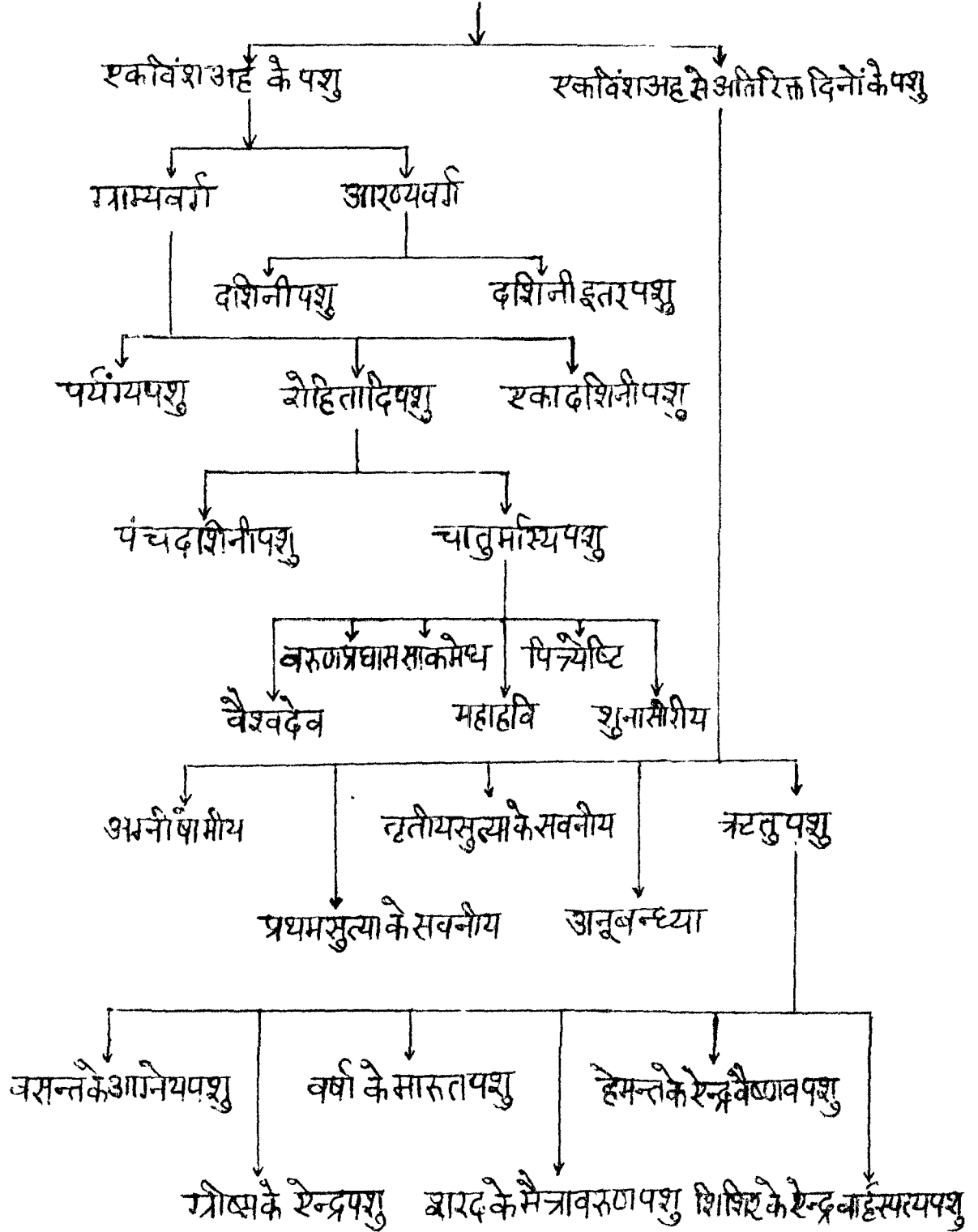
अश्वमेध में आलभान होने वाले समस्त देवता-पशुओं को  
आगे दी गई तालिका के अनुसार सुविधापूर्वक समझा जा सकता है।  
अपने प्रतीकायित अर्थों के साथ इन सब का विशेष विवेचन 'पर्यङ्ग्य-  
पशु' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत इसी अध्याय में आगे किया जा रहा  
है।

.... तालिका आगे है

-----  
1. वा. सं. 29/58, 59

2. 'द्वेत्वेवैते एकदशिन्यावातभेत' श. ब्रा. 13/5/1/3;

## अश्वमेध के देवतापशु



## II

## पर्यङ्ग्य-पशु

पर्यङ्ग्य-पशुओं के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण वाजसनेयी संहिता के 'अश्व तूपरगोमृगम्' मंत्र के उद्धारण के साधन मुख्य विषय का आरम्भ करके अन्त में कहता है: 'ते वा एते पचदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति'। ब्राह्मण ने संहिता के जिस मंत्र को यहाँ उद्धृत किया उसमें कहा गया है कि-अश्व, तूपर और गोमृग प्रजापति के हैं। अश्व के मस्तक पर अग्नि के निमित्त कृष्णाग्नीव छाग, हनु के नीचे सरस्वती के निमित्त मेषी, अश्व के आगे के दोनों पैरों पर अश्विनी कुमारों के निमित्त नीचे के भाग में श्वेत दो पशु, अश्व के पीछे के पैरों पर त्वष्टा के निमित्त जेठों पर बाल-बाते दो पशु, नाभि पर सोम और पूषा के निमित्त श्याम-पशु और अश्व के दोनों पार्श्वों में सूर्य के निमित्त श्वेत और यम के निमित्त कृष्ण वर्ण एक-एक पशु बाँधे। वायु-देव के निमित्त एक पशु अश्व की पूँछ पर बाँधे। इन्द्र के निमित्त एक बन्ध्या/गाय और विष्णु के निमित्त एक बौना बकरा बाँधे<sup>2</sup>। यहाँ महीधर और उवट का कहना है कि अङ्गान्तर का कथन न होने से इन्द्र और विष्णु के पशु भी पूँछ पर ही बाँधे<sup>3</sup>। संहिता के इस मंत्र में वर्णित अश्व सहित सभी पशुओं की सम्पूर्णा संख्या पंद्रह है। ब्राह्मण इन सभी को 'पंद्रह पर्यङ्ग्य' कहता है।

1. श. ब्रा. 13/2/2/10 ॥\* तूपरं अश्वमृगम् । 'हरि० भा०' पृ०

2. 'अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णाग्नीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती मेष्यास्तादधाम्बोराश्विना कथोरामो बाह्यो सोमोपोष्ठा श्यामो नाभ्या सोर्ययामो श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्टौ सोमशसक्त्या सक्त्यावर्षिष्य श्वेत पुच्छ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वेष्यावो वामनः' वा. सं. 24/1;

3. 'वेहत् गर्भाघातिनी वैष्णावो वामनः पशुश्च पुच्छ एव अङ्गान्तरानुक्ते' मही. भा., उ. भा. 24/1;

अश्वारूढ़ों पर बंधने वाले पशुओं की संख्या बारह है ।<sup>1</sup>  
 कात्यायन<sup>2</sup> 'पर्यङ्ग्यान्श्वे' सूत्र लिख कर स्पष्ट करते हैं कि उनके मत में पर्यङ्ग्य पशु बारह है, क्योंकि अश्वारूढ़ों पर बंधने वाले पशु बारह ही हैं । कात्यायन के मतानुयायी कर्क, देवयानिक और सिद्धिप्त-सार टीकाकार भी पर्यङ्ग्यों को बारह मानने के पक्ष में हैं ।<sup>3</sup> शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी 'अश्वस्य पर्यङ्गानि रराटादीनि तेषु भवन्ति पर्यङ्ग्या इति'<sup>4</sup> इस व्युत्पत्ति-निर्देश से पर्यङ्ग्यों को बारह मानने के पक्ष में लगते हैं । किन्तु उन्होंने उक्त मत जिस रूप में रखा है उसे देखाने से यही लगता है कि यह उनका पर्यङ्ग्यों के सम्दर्भ में द्वितीय विचार है । हरिस्वामी का पर्यङ्ग्यों के सम्दर्भ में प्रथम विचार, जिसके अनुसार वे पर्यङ्ग्यों को पंद्रह मानने के पक्ष में लगते हैं यही अत्यन्त अस्पष्ट है ।<sup>5</sup> महीधर और उबट शतपथ ब्राह्मण की भाषि अङ्ग-पशुओं में अश्वारूढ़ तीन को भी जोड़ कर पंद्रह पर्यङ्ग्य मानने के पक्ष में हैं, किन्तु इन दोनों विद्वानों में से किसी ने भी अश्व, तूपर और गौमृग को पर्यङ्ग्य मानने के कारणों को स्पष्ट नहीं किया है । शब्द-निर्वचन, परिस्थिति एवं व्यवहार की दृष्टि से यही लगता है कि बारह अङ्ग-पशुओं को ही पर्यङ्ग्य मानना चाहिये किन्तु 'पञ्चदश पर्यङ्ग्याः' कहने में ब्राह्मण का एक निगूढ़ अभिप्राय है जिस पर 'पर्यङ्ग्य-पशुओं' में ब्राह्मण की प्रतीक योजना के अन्तर्गत आगे प्रकाश डाला गया है ।

1. 'अश्वं तूपरं गौमृगमिति । तान् मध्यमे यूपे जलित्वा' श. ब्रा. 13/2/2/2;

2. का. ब्रा. सू. 20/6/4

3. देखें कर्क भाष्य 20/6/4; सिद्धिप्त सार टीका 20/6/4; देवटी 0, 20/6/4;

4. हरिभा 0 13/2/2/10

5. देखें हरिस्वामी भाष्य, वही ।

6 (क) 'एवमश्वारूढ़िभिः सह पञ्चदश भावन्ति । एते पर्यङ्ग्या उच्यन्ते' वही भा. 24/1

(ख) 'एते पर्यङ्ग्याः' उबट भा 0 24/1,

7. देखें पृ 0 सं 0

पर्यङ्ग्य पशुओं में प्रजापति के अश्वीद तीन पशुओं के अतिरिक्त केवल अग्नि और सरस्वती के पशुओं की ही जाति स्पष्ट है शेष पशुओं की जाति स्पष्ट नहीं है । महीधार और उखट भी इन्हें मात्र अमुक देवता का अमुक गुणों वाला 'पशु' कहते हैं, इनकी जाति स्पष्ट नहीं करते । कात्यायन ने 'वपाहोम' के सन्दर्भ में अश्वमेध में आलभान होने वाले सभी यूप-पशुओं पर इस दृष्टि से विचार किया है । इस सन्दर्भ में उनका निर्णय है कि ये पशु छाग, उखर (गौ) और मेष जाति में से किसी भी एक के हो सकते हैं । इन तीन में से जिस जाति के पशु में उक्त लक्षण मिल जाय उसी को ग्रहण कर लेना चाहिये<sup>2</sup> । सहिता और ब्राह्मण अग्नि, सरस्वती इत्यादि के निमित्त विशिष्ट पशुओं को अश्व के स्थान-विशेषों पर बांधने मात्र का कथन करते हैं । वे यह स्पष्ट नहीं करते कि इन्हें वहाँ किस प्रकार बांधा जाय, क्योंकि लताट और हनु आदि पर एक समग्र पशु बांधना असंभव सा लगता है । सर्व प्रथम भाष्यकार हरिस्वामी ने इस सन्दर्भ में अपना सुझाव उपस्थात करते हुए कहा था : 'अश्वस्य यूपभूते उपायेनालभते नियुनक्ति'<sup>3</sup> । हरिस्वामी द्वारा निर्दिष्ट 'उपाय' को और अधिक स्पष्ट करते हुए देवयानिकाचार्य ने कहा था : 'अश्वस्य शरीरं तरणाद्य तुम्बीफलमिव सर्वतः रज्ज्वा गुम्फनीयम् । तथासति उक्तस्थाने पर्यङ्ग्यालम्भास्तत्तत्स्थाने<sup>5</sup> गुम्फित-रज्ज्वा सुकरः स्यात्'<sup>4</sup> । आगे के आचार्यों महीधार, उखट आदि ने देवयानिक के उक्त मत को पथावत् स्वीकार करके पर्यङ्ग्यपशुबन्धा के सन्दर्भ में इसे एक 'व्यवस्था' का रूप प्रदान कर दिया ।

1. 'छागोखरमेषाः पश्वभिधानाद्यथातिङ्गम्' क. श्रौ० सू. 20/7/19

2. 'येन येन लिङ्गेन यो यः पशुर्लिङ्गयते अवगम्यते स स प्रत्येतक्यो न सर्वे छागा इति । तेन रोहित लिङ्गेन गौर्गृहीतव्यः । तूपरत्वेन छागः कूबलिङ्गेन मेषः । कुत एतत् ? पश्वभिधानात् ।'  
क०भा० 20/7/19;

3. हरि०भा० 13/2/2/3 ।।

4. देव०टी० 20/6/4 .

5 (क) 'अत्राश्वस्य शरीरं तरणाद्य तुम्बीफलवद्रज्जु बद्ध्वा गुम्फनीयम्'  
(छा) 'लताटादिषु पशुबन्धानायाश्वशरीरं रज्जु मही०भा० 24/1  
'भिर्वष्टनीयम्' उ० ०भा० 24/1 .



शतपथ में एक वाक्य आता है 'तस्यैते पशवो भवन्ति  
'अश्व तूपर गोमृगः' इति पंचदश पर्यङ्गाः<sup>1</sup>। हरिस्वामी<sup>2</sup> ने यक्ष  
'तस्य'पद को स्पष्ट करते हुए कहा है: 'तस्य मध्यमस्य अश्वः'<sup>3</sup>। 'मध्यमदिन'  
अग्निष्टोम के बाद का दिन-द्वितीय सुत्या होता है<sup>3</sup>। ब्राह्मण यक्ष  
पर्यङ्ग्य-पशुओं के आत्मन से सम्बन्धित संहिता को उद्धृत कर रहा  
है और स्वयं भी उन्हें पंद्रह पर्यङ्ग्य कह रहा है। प्रसङ्ग पशु-आत्मन  
का ही है। अतः कहा जा सकता है कि पर्यङ्ग्य पशुओं का आत्मन  
द्वितीय सुत्या में सम्पन्न किया जाता था।

#### पर्यङ्ग्य पशुओं में ब्राह्मण की प्रतीक योजना

ब्राह्मण में एक कथान आता है 'अश्व पशुओं में श्रेष्ठ है'<sup>4</sup>  
पशुओं में 'श्रेष्ठ' अश्व' के मुख्य सहयोग से सम्पन्न होने वाले अश्वमेध  
के विषय में ब्राह्मण का कहना है 'अश्वमेध समस्त यज्ञों का राजा है'<sup>5</sup>।  
वैसे तो 'श्रेष्ठपशु' अश्व का अश्वमेध में मुख्य साधन बनने से, और अश्वमेध  
के 'यज्ञों का राजा' होने से ही यह स्वतः सिद्ध था कि वह पशुओं  
का और पशुओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञों का भी राजा है, किन्तु  
ब्राह्मण की संभावना इतने से संतोष नहीं हुआ। अतः उसने अश्वमेध  
के प्रमुखा साधन अश्व को उन सभी औपचारिकताओं से सम्पन्न करना  
भी आवश्यक समझा जो एक सार्वभौम सम्राट् के साथ जुड़ी होती है।

1. श. ब्रा. 13/5/1/13;

2. हरिभाट्ट वही।

3. 'एकविंश' मध्यममहर्भवति' श. ब्रा. 13/5/1/5

4. 'परमाश्वः पशूनाम्' श. ब्रा. 13/3/3/1;

5. 'राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेध' वही 13/2/2/1;

प्रजा में किसी को भी मुकुटधारी राजा घोषित करते समय एक यज्ञ किया जाता था। अतः ब्राह्मण भी अश्व का 'राजत्वं' प्रतिपादित करने के उद्देश्य से पर्यङ्ग्यपशुओं के स्म में अश्व के निमित्त यज्ञ का आरम्भ करता है। उसका प्रतिपादन है: अश्व के उमर जो पशु बाँधा जाते हैं वह यज्ञ है। (अध्वर्यु) अश्व पर<sup>2</sup> पर्यङ्ग्यपशु बाँधा कर (अश्व के निमित्त) यज्ञ का आरम्भ करता है।

राज्यभिषेक के समय यज्ञ करने का सम्बन्ध राजा की शक्ति प्रदान करने और विपत्ति में प्रजा की रक्षा हेतु संसाधनों से संपन्न करने से रहता है। यहाँ भी पर्यङ्ग्यपशुबन्ध के स्म में होने वाले यज्ञ में बहुत कुछ ऐसा ही होता है। ब्राह्मण का कथन है: अश्व तूपर और गोमृग को मध्यम यूप में बाँधा कर अपने<sup>3</sup> इस कृत्य से इसके (अश्व या यजमान के) सेना के मुख को उग्र बनाता है। यहाँ<sup>4</sup> हरिस्वामी की व्याख्या है: 'राजभूतं अश्वम् सेनामुखा एव करोति'। उक्त ब्राह्मणवाक्य और उस पर हरिस्वामी की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण अश्व के सन्दर्भ में तूपर और गोमृग को युद्ध में सेनामुख का कार्य करते हुए राजा के दो प्रधान सेनाध्यक्षों के स्म में देखा रहा है। उसकी दृष्टि में अश्व इन दोनों से अपने को उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न करता है जिस प्रकार युद्ध में एक राजा अपने दाये बाये डटे हुए सेनाध्यक्षों से अपने को शक्तिसम्पन्न रखाता है।

1. (क) श. ब्र. 5/2/3- 5/5/3;

(ङ) द्रष्टव्य, श. ब्र., सै० कु० ३०३०६०सी०, भाग 5, भूमि का भाग पृ० सै० 15.

2. 'यदश्वे पशुन्निपुनक्ति। यज्ञ एव तद्यज्जारभते' श. ब्र. 13/2/2/1;

3. 'सेनामुखामैवा स्यैतेन संशयति' वही 13/2/2/2;

4. हरि० भा० 13/2/2/2;

तूपर और गोमृग अश्व के उमर न बंधा कर अग्निष्ठ यूप में बंधाते है ।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त कात्यायन और उनके अनुयायियों के मत में ये पर्यङ्ग्य ही नहीं हैं<sup>2</sup>। अतः प्रश्न हो सकता है कि इन तूपर और गोमृग को पर्यङ्ग्य-बन्धा स्म 'यज्ञ' का अङ्ग ही क्यों माना जाय । इसके उत्तर में तथ्य यह है कि ऋह्मण की अपनी दृष्टि में तूपर और गोमृग पर्यङ्ग्य ही हैं क्योंकि उसने इन्हें पर्यङ्ग्यों के अन्तर्गत गिना है । अतः तूपर और गोमृग यज्ञार्था में अश्व पर बंधे न होकर भी ऋह्मण द्वारा प्रस्थापित अश्व सम्बन्धी यज्ञ के अङ्ग हैं और अपने वर्तमान स्म से समाद्यूत अश्व के युद्धा जैसे पराक्रम युक्त कृत्यों में उत्कृष्ट सहायक होने के भाव को पूरी तरह से प्रकट करते हैं ।

'अश्व प्रजापत्य है'<sup>4</sup>-प्रजापति का है या प्रजापति के स्वभाव वाला है-यह उत्तेजा ऋह्मण में अनेक बार और अनेक स्थानों पर आता है । किन्तु यजुर्वेद का अपना निर्णय है कि केवल अश्व ही 'प्राजापत्य' नहीं है वरन् तूपर और गोमृग भी प्राजापत्य हैं<sup>5</sup> । संभवतः संहिता के इस निर्देश से प्रभावित रह कर ऋह्मण तूपर और गोमृग को अश्व के उमर बंधा कर उन्हें तुच्छ करना उचित नहीं समझता है । वह इन दोनों को अश्व के दाये-बाये रक्ताता है और इन्हें महत्त्व प्रदान करने के उद्देश्य से अश्व के साधा यूप में ही बंधावाता है एवं अश्व के प्रधान सहायक के स्म में उपस्थापित करता है ।

-----

1. 'अश्वं तूपरं गोमृगमिति । तान् मध्यमे यूप आतमते' श. भा. 13/2/2/2

2. देखें उमर पृष्ठ सं

3. 'ते वा एते पञ्चदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति' श. भा. 13/2/2/10

4. 'प्राजापत्योऽश्वः' श. भा. 13/1/1/1; 13/1/2/3; 13/3/3/4; आदि।

5. 'अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः' वा. सं. 24/1

ब्राह्मण में वाक्य आते हैं 'अश्वमेध क्षत्रिय का यज्ञ है'।  
 'राष्ट्री को अश्वमेध करना चाहिये'<sup>2</sup>। शतपथ के इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट होता है कि यह यज्ञ क्षत्रिय वर्ण के राजा ही के लिए विहित है। दूसरी ओर ब्राह्मण में उल्लेख मिलते हैं 'अश्व क्षत्रिय है'। 'अश्व क्षत्रिय है अन्य पशु वैश्य है'<sup>4</sup>। इन दोनों उल्लेखों में अश्वमेध के अश्व को 'क्षत्रिय' बताया गया है। जब ब्राह्मण अश्वमेध के यजमानत्व में केवल 'क्षत्रिय राजा' को ही उपस्थापित करता है, अश्वमेध के अश्व को 'क्षत्रिय' कहता है और अश्व को पर्यङ्ग्य पशुओं के स्म में राज्याभिषेक से युक्त कर युद्ध के लिये संनद्धा 'वीर राजा' के स्म में उपस्थापित करता है तो उसके इस समस्त उपक्रम का उद्देश्य संभावितः यह है कि वह अश्वमेध के यजमान को 'अश्व' और पर्यङ्ग्य- 'तूपर' और 'गोमृग' इन प्रतीकों के माध्यम से 'सार्वभौमसम्राट्' पद से युक्त करना चाहता है और युद्धादि प्रकृति संकटों के समय में पराक्रमी, विश्वस्त एवं स्वामिभक्त सेनापति आदि सहायोगियों से सम्पन्न करना चाहता है।

पर्यङ्ग्यपशु-बन्ध के सन्दर्भ में शतपथ विधान करता है: अग्नि के निमित्त एक काली गर्जन का बकरा अश्व के मस्तक पर उपायपूर्वक सामने की ओर बांधा जाय<sup>5</sup>। इस विधान के सन्दर्भ में आपत्ति की जा सकती है कि बकरे को 'मस्तक पर उपाय पूर्वक सामने की ओर बांधने का यथा विधान हो रहा है, जिससे स्पष्ट है कि आतमान काल में बकरे का

1. 'क्षत्रिययज्ञ उ वा एषः यदश्वमेध इति' श. भा. 13/4/1/2;

2. 'तस्माद् राष्ट्राश्वमेधो न यजेत' वही, 13/1/6/3;

3. 'अथो क्षत्रं वा अश्वः' वही, 13/2/2/17;

4. 'क्षत्रं वा अश्वः। विदेतरे पशवः' वही, 13/2/2/15

5. 'रराटे तताटे अश्वस्य यूपमूते उपायेनात्मते नियुनक्ति' हरि० भा० 13/2/2/3

6. 'कृष्णाग्रीवं आग्नेयं रराटे पुरस्तात्' श. भा. 13/2/2/3;

मुँहा अश्व की ओर रहेगा । किन्तु 'पूर्व-दिशा' में ही मुँहा किये हुए पशु का आलम्भन किया जाना चाहिए<sup>1</sup> । यह विधान भी ब्राह्मण का ही है । अतः यहाँ बकरे का अश्व-अभिमुख आलम्भन उचित नहीं है । संभवतः इसी आपत्ति के निराकरणार्थ स्पष्ट किया जाता है 'पूर्वाग्निमेव तं कुस्ते'<sup>2</sup> । भाव यह है कि 'अज' कृष्णाग्नीष होने से 'अग्नि' का और 'अश्व' पूर्वोक्त यज्ञ के अङ्ग के रूप में अपने निमित्त अज के बाँधे जाने से यजमान के 'राजस्य' का प्रतीकायित कर रहा है । ब्राह्मण का अभिप्राय निश्चित ही यजमान के लिये पूर्वाग्नि को, जिसे हरि स्वामी ने 'त्रेताग्नि'<sup>3</sup> कह कर और इगतिंग ने 'भवन की अग्नि'<sup>4</sup> कह कर स्पष्ट किया है, कल्याणकारी बनाने में है । अतः अपनी इसी अभिप्रायपूर्ति के लिये उसने यहाँ 'अज' और 'अश्व' प्रतीकों का सहयोग लिया है ।

अश्व के हनु के नीचे एक मेषी बाँधाने का विधान है । यह सरस्वती का पशु बताई गई है । ब्राह्मण इसे अश्व के हनु के नीचे इसलिये बाँधाने का विधान करता है कि यजमान का रनिवास उसका अनुगत रहे ।<sup>5</sup> मेषी भोलोपन, सरलता और अनुगामित्व का प्रतीक है । अपने अनुगामित्व के लिये वह आज भी समाज में एक मुखवरा बनी हुई है ।<sup>6</sup> अतः यहाँ रनिवास की स्त्रियों के राजा के प्रति अनुगामित्व को प्रकट करने में वह पूर्ण रूप से सक्षम है । किन्तु यह मूल प्रश्न अभी बचा हुआ है कि उसे हनु के नीचे ही क्यों बाँधा जाय ? मेषी का अश्व के हनु के नीचे बाँधाने में भाव संभवतः यह है कि उसका राजभूत अश्व के हनु के नीचे बाँधाना बताता है कि स्त्री

1. देहों हरि स्वामी भाष्य 13/2/3;

2. श. ब्रा. वही ।

3. 'त्रेतायाः प्रथमतः भवतीत्यावसथ्यः' हरिभाट्ट 13/2/2/3;

4. श. ब्रा., सै. कु. आ. ई. ; 13/2/2/3;

5. 'स्त्रीरेव तदनुगाः कुस्ते' श. ब्रा. 13/2/2/4;

6. 'मोड़ चाल' ।

पुरुष की अनुगामी तभी रह सकती है जब वह पुरुष के कण्ठ का निरन्तर संयोग प्राप्त करती रहें। अतः यही ब्राह्मण 'हनु' के प्रतीक से बताना चाहता है कि राजा को अपनी रानियों के प्रति सदैव अनुराग और प्रेम से युक्त रहना चाहिये।

यद्यपि अश्व के हनु के नीचे बंधी हुई मेषी उपर्युक्त प्रकार से राजा के प्रति रानियों के अनुगामित्व को प्रकट करती हुई प्रतीत होती है, तथापि वह सरस्वती का पशु है<sup>1</sup> और अपने वर्ण की शुद्धता एवं स्वभाव के भाँसेपन से सारस्वतपशु होने को उचित सिद्धा करती है। जब यह सुनिश्चित है कि वह सरस्वती का प्रतिनिधित्व करती है तो इसका एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जहाँ राजा को युद्ध में सेना-ध्यक्षाँ से शक्ति सम्पन्न रहना चाहिये वहीं उसे सारस्वतज्ञान-धर्म, आचार एवं नीति को भी सदैव अपने गले से लगाये रखना चाहिये। संभावतः ब्राह्मण शास्त्र-क्त और शास्त्र-क्त दोनों से ही अश्वमेध के यजमान को सम्पन्न रहने का विधान करता है। जहाँ 'तूपर' और 'गौमृग' उसके शास्त्र-क्त के प्रतीक हैं वहीं अश्व के हनु के नीचे बंधी हुई 'मेषी' उसके शास्त्र-क्त-ज्ञान, विज्ञान, धर्म, आचार नीति आदि-की प्रतीक है।

ब्राह्मण अश्विनी कुमारों के निमित्त अर्धभाग में श्वेतवर्ण दो हाथ अश्व के सामने के पैरों पर<sup>2</sup> और त्वष्टा के निमित्त जंघाओं पर<sup>3</sup> बातयुक्त दो पशु अश्व के पीछे के पैरों पर बांधने का विधान करता है। ऋग्वेद में अश्विनीकुमार शक्ति और वातुर्य के देवता के रूप में<sup>4</sup> और त्वष्टा वायुध और विविधा वस्तुओं को बनाने वाले देवता के रूप में<sup>5</sup> वर्णित होते हैं। पराक्रम से इन दोनों ही देवों का सीधा सम्बन्ध है प्रस्तुत

1. 'सारस्वती' मेषी मधस्तादधान्वति 'श. ब्रा. 13/2/2/4;

2. 'अश्विनावधारामो बह्वोः' श. ब्रा. 13/2/2/5;

3. 'त्वाष्टौ शोमशसक्या सक्रयोः' वही, 13/2/2/8;

4. अ० 1/112/2; 1/118/3, 1/116/16; आदि.

5. वही, 1/85/9; 5/53/4, 10/110/9; 10/184/1; 8/102/8, आदि

स्थान पर भी इन के लिये पशु बांधना स्पष्ट कर रहा है कि वह अश्व और उसके प्रतीकायित अर्था यजमान के पराक्रमयुक्त होने के लिये ही है । ब्राह्मण इस सन्दर्भ में कोई घुमावदार बात न कह कर सीधी-सीधी कथान करता है कि अश्व के सामने के पैरों पर अधोराम छाग बांधने से यजमान बाहुक्ती होता है<sup>1</sup> और अश्व के पिछले पैरों पर ताम्रशसक्य पशु बांधने से वह उक्ती होता है ।<sup>2</sup>

ब्राह्मण ने सूर्य के निमित्त श्वेतपशु और यम के निमित्त श्याम पशु अश्व के दोनों पार्श्वों में बांधने की व्यवस्था की है<sup>3</sup> और कहा है कि ऐसा करने से यजमान सन्धावीर्य होता है ।<sup>4</sup> लगता ऐसा है कि सूर्य और यम के ये दोनों पशु अपने प्रतीकायित अर्था 'कवच' से अश्व के प्रतीकायित अर्था 'यजमान' को युद्धभूमि में सदैव युक्त रहने का कथान करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं । 'सूर्य का कवच' तो बाद के साहित्य में वीरों के लिये सदैव स्पृहा का विषय ही रहा है । महाभारत में पाण्डवों के अस्त्रों से रक्षा हेतु कर्ण द्वारा सूर्य कवच की याचना को<sup>5</sup> इस प्रसङ्ग में उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । यम का 'कृष्णवर्ण' पशु भी लौह धातु निर्मित वक्त्रासूत्राण को प्रतीकायित करने में पर्याप्त सूक्ष्म है ।

सोम और पूषन् के निमित्त एक श्यामवर्ण पशु अश्व की नाभि पर बांधने का विधान है<sup>6</sup> । सोम और पूषन् युग्म देवता हैं । इनमें सोम का निकट सम्बन्ध सोमता या सोमरस से है ।<sup>7</sup> ब्राह्मण

1. 'अर्वा रेव क्त धात्ते । तस्माद् राजा बाहुक्ती भावुकः '

श. ब्रा. 13/2/2/5.

2. 'उर्वारेव क्त धात्ते । तस्माद् राजा उक्ती भावुकः 'वही, 13/2/2/8;

3. 'सौर्ययामौ श्वेत च कृष्ण' च पार्श्वयोः 'वही, 13/2/2/7;

4. 'तस्माद् राजा सन्धावीर्य करोति 'वही ।

5.

6. 'सोमा पौष्णा श्याम नाभ्याम्' श. ब्रा. 13/2/2/6;

7. देखो, वैदिक देवशास्त्र, डा० सूर्यकान्त, पृ० 270 से 274;

पृथ्वी को तो सीधे शब्दों में पूषन् ही कह देता है<sup>1</sup> (आज का वैज्ञानिक भी यही मत रखाता है)। अतः पूषन् का सम्बन्ध पृथ्वी से रहा। सोम-रस पृथ्वी पर ही उत्पन्न होता है। संभावतः इसी लिये पूषन् के साथ सोम का अभिन्न सम्बन्ध है। 'नाभि' जो सामान्य स्थिति में भी वस्तुओं के केन्द्र का एक विशेष अभिधान है, सोम की विरस्थिति के लिये इस देश के साहित्य में प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है<sup>3</sup>। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अश्व की नाभि समस्त पृथ्वी के केन्द्र-स्थानीय 'यजमान' को और उस पर बाँधा हुआ सोमपूषा का श्यामपशु 'यजमान के सदैव सोम-रस से सम्पन्न रहने के भाव' को प्रकट कर रहा हो सकता है। ब्राह्मण अश्वनाभि पर श्यामवर्ण पशु बाँधाने की योजना के माध्यम से कहना चाहता है कि अश्वमेध का यजमान सम्पूर्ण पृथ्वी के केन्द्र में अपने को कीर्ति की स्थिति में बनाये रखे और सोमरस पान से दीर्घजीवी एवं दृढ़परिपक्व होकर लम्बे समय तक पृथ्वी का शासन करे।

वायु के निमित्त एक श्वेतपशु, इन्द्र के लिये एक बन्ध्या गाय और विष्णु के लिये एक बौना बकरा अश्व की पूँछ पर बाँधाने का विधान हुआ है।<sup>4</sup>

श्वेतपशु के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है कि यह अश्व को उच्च स्थानीय-पर्वतादिस्थल या प्रासाद-बना देने के लिये है। क्योंकि

1. (क) 'इयं वै पूषा' श. ब्रा. 13/2/2/6;

(ख) 'पूषान इज दिस् अर्धा' इगतिङ्ग का अंग्रेजी अनुवाद, 13/2/2/6,

2. ऋ 10/94/3; 7/98/1; 9/92/1; 9/107/10; 9/67/19;

10/85/3 आदि.

3. (क) 'देवा अकृषन्नमृतस्य नाभिम्' ऋ 03/17/4;

(ख) रावण की नाभि में अमृत की कल्पना सोम को नाभि से सम्बद्ध मानने में सहायक हो सकती है।

4. श. ब्रा. 13/2/2/9;



भाय के उपस्थित होने पर प्रजा ऊँचे स्थान की ओर ही भागती है । यहाँ 'उत्सेध' पद भाय रहित स्थान के ज्ञापक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । अतः अश्व की पूँछ पर श्वेत पशु बाँधाने का सीधा सरल भाव यह है कि वर्ण रहित वायुदेव के लिये श्वेत पशु (क्योंकि निर्वर्ण पशु संभाव नहीं है और श्वेतवर्ण शेष सभी वर्णों का आधार है) का आलम्बन करके ब्राह्मण यजमान को उस पद पर पहुँचाना चाहता है जहाँ स्थित रह कर वह भाय के समय प्रजा का संरक्षण स्थान बन सके । वायु क्त का देवता है<sup>2</sup> । वायु को उसका पशु आलम्बन करके यजमान बली हो चुका है । अतः वह भाय के समय में प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है ।

इन्द्र के लिये बन्ध्या गाय बाँधाने का विधान<sup>3</sup> है । ब्राह्मण ने गाय को बाँधाने का उद्देश्य 'यज्ञस्य सेन्द्रतायै' कहा है<sup>3</sup> । किन्तु बन्ध्या गाय को अश्वमेध में इन्द्रदेवता की स्थािति मात्र को बताने के लिये प्रयुक्त हुआ मानना यहाँ पर्याप्त नहीं लगता । बन्ध्या गाय यहाँ क्रियाशीलता की प्रतीक हो सकती है । क्योंकि ब्राह्मण में इन्द्र अपने 'स्वपस्य' विशेषण के साथ प्रयुक्त हुए हैं और इगलिङ्ग इस का अर्थ क्रियाशील करते हैं<sup>4</sup> । व्यवहार में बन्ध्या पशु अबन्ध्यों की तुलना में अधिक क्रियाशील देखा जाता है । अतः युद्ध के देव इन्द्र के निमित्त अश्वपुच्छ पर बाँधाने वाली बन्ध्या गाय को भाय की स्थािति में प्रजा की रक्षा में सक्षम यजमान के सन्दर्भ में देखाना ही अधिक उचित है ।

1. (क) 'उत्सेधमेव तं कुस्ते । तस्मादुत्सेधं प्रजा भाये भिसंश्रयन्ति,' वही ।

(ग) 'उत्सेधं स्थलं प्रसादं वा पर्वतं सप्रौदम्' हरि० भा० ०, वही ।

2. ऋ० 1/23/3; 10/85/5; 1/134/5; 1/164/44; 4/17/12; आदि ।

3. 'इन्द्राय स्वपस्याय वेहतम् । यज्ञस्य सेन्द्रतायै ।' श. ब्रा. 13/2/219;

4. श. ब्रा., सै. कु. आ. ई. 13/2/2/9 .

विष्णु के निमित्त बांधे जाने वाले पशु को बाना बताया गया है। संभावतः इसलिये कि विष्णु देव के साथ उनके वामन होने का आख्यान जो जुड़ा हुआ है। बाने पशु का पुच्छ स्थान पर बंधान अश्व के प्रतीक यित अर्थात् यजमान के उत्सेधस्य और यज्ञस्य हो जाने को प्रकट करने के निमित्त रखा हो सकता है क्योंकि विष्णु 'गिरिष्ठा' है,<sup>2</sup> विष्णु 'यज्ञ' है<sup>3</sup>। ब्राह्मण ने प्रस्तुत प्रसङ्ग-पर्यङ्ग्यपशुबन्ध-का आरम्भ 'यजमानो वा अश्वमेध' 'यजमानो यज्ञ'<sup>4</sup> जैसे वाक्यों से किया और इनके वैयक्तिक उल्लेख का समापन वह 'यज्ञ एवास्ततः प्रतिविष्ठति'<sup>6</sup> इस वाक्य से करता है। अतः कहा जा सकता है कि उसे यजमान को उच्चस्थानीय एवं यज्ञस्य में प्रतिष्ठित करना ही सबसे अधिक प्रिय है। विष्णु का बाना बकरा इस दिशा में उसका सर्वाधिक सफल और सशक्त प्रयोग है।

तूपर गौमृग कृष्णाग्नीव छाग आदि चौदह पशुओं को विभिन्न शक्तियों के प्रतीक रूप में राजभूत अश्व के साथ सम्बद्ध करके पर्यङ्ग्यपशुबन्ध का समाहार करते हुए ब्राह्मण का अंतिम वाक्य आता है 'ते वा एते पंचदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति'।<sup>7</sup> अपने इस वाक्य में ब्राह्मण ने अश्व को भी पर्यङ्ग्य पशुओं में गिना है, जिसे कात्यायन और उनके अनुयायियों का एक बड़ा वर्ग पर्यङ्ग्य मानने के लिये तैयार नहीं है। यह बहुत कुछ सब है कि 'तूपर' और 'गौमृग' को अश्व के पर्यङ्ग्य-अङ्गों-से चाहे कुछ दूर से ही सही किन्तु सम्बद्ध होने के कारण यदि पर्यङ्ग्य मान भी लिये जाय तो अश्व किसी भी स्थिति में पर्यङ्ग्य

1. 'वैष्णवावो वामनः' वही।

2. 'मृगो न भीमः कुवरो गिरिष्ठाः' श. ब्रा. 1/154/2;

3. 'यज्ञो वै विष्णुः' श. ब्रा. 73/2/2/9;

4. श. ब्रा. 13/2/2/1

5. वही

6. वही 13/2/2/9;

7. वही 13/2/2/10;

बनने की कोटि में नहीं आता । किन्तु ब्राह्मण निःसंदेह यहाँ अश्व को पर्यङ्ग्य कह रहा है । संभावतः वह अश्व को पर्यङ्ग्य इसलिये कह रहा है कि विषय की उपसंस्कार वेला में वह वह शक्तियाँ और शक्तिमान् में भेद करना नहीं चाहता । उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का सबसे अधिक सरल साधन यही हो सकता था कि वह शक्तिमान् को भी एक शक्ति के स्म में ही उपस्थात करदे । अश्व को पर्यङ्ग्य कह कर उसने यही कार्य किया । जब पंद्रहों पशु पंद्रह विभिन्न शक्तियाँ हो गये तब उसने अश्व तूपर आदि इन सभी शक्तियों को परस्पर मिला दिया और इस परस्पर मेल से उत्पन्न 'संयुक्तशक्ति' को त्रिलोकी का सबसे महान् अस्त्र इन्द्र का वज्र प्रतिपादित कर दिया । ब्राह्मण इस संयुक्तशक्ति को मात्र वज्र कह कर ही शान्त नहा हो गया उसने इसकी समुचित व्याख्या भी उपस्थात की । उसका कहना है 'वीर्य वज्र' । भाव यह है कि राजा, सेनाध्यक्ष और प्रजा आदि के संयुक्त पौरुष का नाम ही वज्र है। वज्र स्म इस संयुक्तराष्ट्र शक्ति से अश्वमेध का यजमान सामने आने वाले सम्पूर्ण पापों को अर्थात् पापात्माओं को सदैव-सदैव के लिये समाप्त कर देता है ।<sup>1</sup>

पंद्रह पर्यङ्ग्य कहने में ब्राह्मण की इस याज्या को समझ लेने के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों की पर्यङ्ग्य की परिभाषा<sup>2</sup> अश्व के साथ घटित हो या न हो किन्तु इसे पर्यङ्ग्य मानने में ब्राह्मण का जो भाव है वह बहुत ही उदात्त और परिनिष्ठ है । उपसंस्कार पर आते-आते ब्राह्मण ने अश्व के 'राजभूत' होने और तूपर आदि के विभिन्न 'शक्तिस्म' होने के भेद को विगलित कर दिया है एवं पंद्रह पर्यङ्ग्यों के स्म में एक अदम्य, अपरिच्छेद्य संयुक्तराष्ट्रशक्ति की अवतारणा की है ।

1. 'ते वा एते पंचदश पर्यङ्ग्याः पशवो भवन्ति । पंचदशा वै वज्रः ।

वीर्यं वज्रः । वज्रेणैतद्वीर्येण यजमानः पुरस्तात्पाप्मानमपहते'

श. ब्रा. 13/2/2/10;

2. 'अश्वस्य पर्यगानि रराटादीनि तेषु भवाः पर्यङ्ग्या इति' हरिस्वामी।

## III

'पंचदशिनी पशु'

ब्राह्मण का कथान है 'प्रजापति ने अश्व-मेध का निर्माण किया। वह इससे (संभवतः प्रजापति के हाथों से) वह कर पाँच भागों में विभक्त होकर, संवत्सर में प्रविष्ट हो गया। वे (पाँच विभाग त्रिवृत्त होकर) अर्ध मास हो गये। उस मेध का पंद्रह के द्वारा अन्वेषण किया गिया, उसे प्राप्त किया गया और प्राप्त करके पंद्रह से दृढ़ किया गया<sup>2</sup>। इस कथान में प्रजापति के हाथों से सृष्ट अश्व के मेध को अश्व में स्थापित किये जाने से पहले ही स्रष्टा से छूट कर पाँच भागों में विभक्त होता हुआ बताया गया है। शतपथ में अनेक ऐसे वाक्य आते हैं जहाँ संवत्सर में पाँच ही ऋतुओं का उल्लेख है ~~क~~ का नहीं<sup>3</sup>। यही मेध के 'पञ्चित' होकर संवत्सर में प्रवेश करने का उल्लेख है। अतः मेध के ये पाँच विभाग संवत्सर की ऋतुओं का संकेत कर रहे हैं। मेध के ये विभाग ऋतुओं का प्रतीक-आत्मक अभिधान इसलिये भी हो सकते हैं कि अश्व-मेध को ब्राह्मण स्पष्ट शब्दों में संवत्सर कहता है।<sup>4</sup>

1. 'अर्धमासातर्भावात् तै विभागान् प्रत्येकं त्रिभिर्दा बभूवुरिति गम्यते'  
हरिभा 0 13/2/5/1;

2. 'प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। सां स्मात्सृष्टः पराहृत। स पञ्चिर्भूत्वा  
संवत्सरं प्राविशत्। तै र्धमासा अभवन्। तं पंचदशिभिरनु प्रायुक्त।  
तमाप्नोत्। तमाप्त्वा पंचदशिभिरवास्त्वा' श. भा. 13/2/4/1;

3 (क) 'एकविंशति वा एषः। य एषः तपति। द्वादशमासाः। प च ऋतवः।  
त्रय इमै लोकाः। असावादित्य एकविंशति'। श. भा. 13/2/4/11;

(ख) 'एकविंशतिः संपद्यन्ते। द्वादशमासाः। प चर्तवः। त्रय  
इमे लोकाः। असावादित्य, एकविंशति'। वही, 13/1/1/7

4 (क) 'द्वादश मासाः संवत्सरः। संवत्सरमेव य जमाप्नोति'  
श. भा. 13/3/3/8;

(ख) 'प्रजापतिः संवत्सरः। प्रजापतिर्यज्ञः। संवत्सरमेव य जमाप्नोति  
वही, 13/3/6/7;

(ग) 'द्वादश मासाः संवत्सरः। सर्व संवत्सरः। सर्वमश्वमेध 'वही,  
13/4/1/5.

ब्राह्मण के उमर के उल्लेख से प्रजापति के हाथों से सृष्टि मेध का विभाजन केवल 'पाँच' की संख्या तक सीमित नहीं रहता, ब्राह्मण उनके पाँच से पंद्रह हो जाने और अर्धमास हो जाने की बात कहता है। यही यह तथ्य स्मरण रखाने योग्य है कि ब्राह्मण इनके 'अर्धमासाः' होने की बात कहता है, 'एक अर्धमास' बन जाने की नहीं।

ब्राह्मण ने मेध के पंद्रह भागों में विभाजित होकर 'अर्धमासाः' बन जाने का उल्लेख संभावितः इसलिये किया है कि वह संवत्सर के प्रत्येक दिन में मेध के व्याप्त हो जाने को प्रकट करना चाहता है। इसी उद्देश्य से उसने 'ते दूर्धा मासा अभवन्' ऐसा प्रयोग किया है। यदि उसे मेध को मात्र 'अर्धमास' बताना अभीष्ट होता तो वह ऐसा प्रयोग न करता। ब्राह्मण को अभीष्ट यह है कि वह मेध का सम्बन्ध<sup>2</sup> संवत्सर से जोड़ना चाहता है, क्योंकि अश्वमेध संवत्सर का ही रूप है।

ब्राह्मण जिन 'पंद्रह' के द्वारा इस मेध का अन्वेषण करने, प्राप्त करने और दूढ़ करने का उल्लेख करता है हरिश्चामी की दृष्टि में वे 'पंद्रह' 'पंचदश जसोरात्र' है<sup>3</sup>। ब्राह्मण 'पंचदश' संख्या को ही मेध को प्राप्त करने और दूढ़ करने के लिये इसलिये ग्रहण कर रहा हो सकता है कि यह संख्या अपनी दृष्टि से संवत्सर की इक्याई 'दिन' को और समष्टि से उसके लघुतम विभाग पाछा को प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम है।

ब्राह्मण के यही तक के प्रतिपादन से स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में पंद्रह की संख्या पाछा का प्रतीक है। किन्तु उसका आगे का कथन है:

1. श. ब्रा. 13/2/5/1;

2. वही 13/3/3/8; 13/3/6/7; 13/4/1/5 आदि।

3. 'तमश्वमेधं अर्धमासतां प्राप्तं पंचदशभिर्होत्रादिभिर्होतृभिः प्रयुक्तवान्' हरिश्चामी 13/2/5/1.

जो पंचदशिनी है वे अर्धमासों की प्रतिमा हैं<sup>1</sup>। अपने इस कथान में संभावतः ब्राह्मण कहना चाहता है कि केवल पंद्रह की संख्या ही अर्ध मासों का रूप नहीं है वरन् 'पंचदश पंचदशउ एवेतरेष्ट'<sup>2</sup> इत्यादि वाक्यों से पंद्रह की संख्या में यूपों में जिनके आलभान का विधान है वे पंच-दशिनी पशु भी अर्धमासों का रूप हैं।

पंचदश संख्या और पंचदशिनी पशुओं को अर्धमासों के प्रतीक के रूप में उपस्थित करने में, और 'पंद्रह' से अश्व-मेध को प्राप्त करने और दूद करने का कथान करने में ब्राह्मण का अभिप्राय यह रहा हो सकता है कि संवत्सर रूप अश्वमेध को वह प्रजापति के वित्तास या भागेय के रूप में चित्रित करना चाहता है। अश्वमेध प्रजापति का भागेय है क्योंकि वह उसी का सर्जन है; प्रजापति अश्वमेध का भागेय है क्योंकि वह उसका स्रष्टा है। भागेय-अश्वमेध-अर्धमासों में विभक्त है। जैसे भामर अर्धमास में स्वसंचित मधु का भाग करता है<sup>3</sup> या सूर्य अर्धमास (कृष्ण पक्षा) में मधु रूप चन्द्र क्ताओं का, जिन का मूल उत्स स्वयं ही है, पान करता है<sup>4</sup>, तैसे ही भागेय प्रजापति संवत्सर में अर्धमासता को प्राप्त हुए अपने ही निर्माण अश्व-मेध को अर्धमास क्रम से प्राप्त करता है। पंचदशिनी पशुओं का अश्वमेध के यूपों में जो आलभान है वह अश्व को, या अश्व पद वाक्य प्रजापति को मेध से-जीवन रस से-युक्त करने जैसा कार्य है। इसे हम संवत्सर को अधिगत कर लेने-काल पर नियंत्रण प्राप्त कर लेने-जैसा कार्य भी कह

1. 'अर्धमासानां वा एषा प्रतिमा । यत् पंचदशिनः ।'

रा. भा. 13/2/5/1.

2. वही, 13/2/2/11.

3. 'तर्धमासं पिबति संचित्य भामरौ मधु' म. भा. सन0पर्व46/8

4. 'सूर्यो र्धमासं कृष्णपक्षम् ।... । पिबति तदीयाः क्ताः आदत्ते।

संचरति अर्धमिति अत्रापि संबध्यते । शुक्लपक्षे तस्य स्वरश्मिभिः पूर-  
णात् । स्वयमेव संबध्य कृत्वैत्यर्धा । 'वही, भा. रता. र्धा दीपिका ।

सकते हैं, क्योंकि ऋग्वेद का कथन है 'यत्पंचदशिन आलभते अर्धमासानेव तैर्यजमानो वरुन्धते' ।

पंचदश संख्या और पंचदशिनी पशुओं के उक्त प्रतीकात्मक विवेचन से यह धारणा बनती है कि यूपों में पंद्रह के समूह में जिन पशुओं का आलभन होता है वे 'पंचदशिनीपशु' हैं । ऋग्वेद में आया 'पंचदश पंचदश उ एवैतरेषु' वाक्य संहिता में वर्णित सभी ग्राम्य पशुओं को पंद्रह पंद्रह के समूह में ही यूपों में आलभन करने का विधान करता है । अतः उपर्युक्त धारणा के अनुसार अश्व से लेकर 'श्वेता सौर्या' तक के पशु (-संहिता के चौबीसवें अध्याय में वर्णित समस्त 327 ग्राम्य पशु) पंचदशिनी हुए । किंतु ऐसा मानना सर्वथा उचित नहीं है । प्रथम तो इस लिये कि ऋग्वेद अश्व, तूपर, गौमृग और कृष्णग्रीव छाग आदि आरम्भिक पंद्रह पशुओं को ही पंचदशिनी न कह कर अनेक बार और अनेक स्थानों पर 'पर्यङ्गय' कहता है<sup>3</sup> । पंद्रह के समूह में अग्निष्ठ यूप में आलभन होने के कारण अश्व, तूपर और गौमृग को यदि हम आग्रह पूर्वक पंचदशिनी मान भी लें तो कृष्णग्रीव छाग आदि आरह पशुओं को किसी भी स्थिति में पंचदशिनी नहीं माना जा सकता क्योंकि उन का आलभन यूप में न लेकर अश्वगणों पर होता है<sup>5</sup> । द्वितीय इसलिये कि

1. श. ऋ. 13/2/5/1.

2. वही, 13/2/2/11.

3 (क) 'अश्व तूपरः गौमृग इति पंचदश पर्यङ्गयाः ।' श. ऋ. 13/5/1/13  
(ग) 'ते वा एतै पंचदश पर्यङ्गयाः पशवो भवन्ति ।' वही 13/2/2/10

4 'अश्व तूपरं गौमृगमिति । तान् मध्यमे यूप आलभते ।' वही 13/2/2/2

5 (क) श. ऋ. 13/2/2/3-9

(ग) वा. सं 24/1

(ग) 'पर्यङ्गयानश्वे ।' का० ऋ. सू 20/6/4 .

ब्राह्मण ने 'चातुर्मास्य' पशुओं का पंचदशिनी पशुओं से प्रथम अस्तित्व स्वीकार किया है और उन्हें साक्षात् संवत्सर कहा है ।<sup>1</sup> हरिस्वामी,<sup>2</sup> उवट<sup>3</sup> और महीधर<sup>4</sup> इन सभी के मत में संहिता में 'धेनवो ति च्छन्दसे' ( 24/13 ) से आगे के ग्राम्यपशु चातुर्मास्य के पशु हैं, पंचदशिनी पशु नहीं ।

पंचदशिनी पशुओं के सन्दर्भ में हरिस्वामी का कहना है 'प च दशसंख्या प्रमाणा येषां ते प च दशिनः'<sup>5</sup> इन्हें परिगणित करने की दृष्टि से वे आगे कहते हैं- 'वाजसनेयी संहिता के चौबीसवें अध्याय की । से 19 तक की कण्डिकाओं में पंद्रह पशु पड़े गये हैं । किन्हीं में पंद्रह से अधिक हैं, किन्हीं में पंद्रह से कम हैं । वहाँ जिन कण्डिकाओं में पंद्रह पड़े गये हैं उन में आये हुए सभी पशु पंचदशिनी कहे जाते हैं'<sup>6</sup> । हरिस्वामी की उक्त परिभाषा और परिगणन के अनुसार अश्वमेध में पंचदशिनी पशुओं की समग्रसंख्या 150 हुई, जो संहिता के चौबीसवें अध्याय की प्रथम, द्वितीय, पंचम, अष्ट, सप्तम, अष्टम, दशम, द्वादश, त्रयोदश और षोडश कण्डिकाओं में विस्तृत हैं; क्योंकि इनमें से प्रत्येक कण्डिका में पंद्रह पशुओं का विभिन्न

1. 'एष वै साक्षात् संवत्सरः । यच्चातुर्मास्यानि । यच्चातुर्मास्यान्पशूनात्मते । साक्षादेव तत् संवत्सरमवस्थी । 'श. भा. 13/2/5/2

2. -चातुर्मास्येभ्यो वैश्वदेव वस्था प्रधाससाकमेधशुनासीरीयात्मकेभ्यः हरि. भा. पृ० 2854 .

3. 'अथा चातुर्मास्यदेवः पशवः श्वेताः सौर्या इत्यन्ताः । 'उ० भा० 24/14

4. 'अथा चातुर्मास्यदेवः पशवः श्वेताः सौर्या इत्यन्ताः । तत्र प्रथमं वैश्वदेवपर्वपशव उच्यन्ते । ' म. भा. 24/14

5. हरि० भा० 13/2/5/1

6. 'कासुचित् कण्डिकासु (24/1-19) प च दश पशवः पश्यन्ते । कासुचिदधिकाः । कासुचिदूनाः । तत्र यासु प च दश पश्यन्ते । तासु ये पशवः ते प च दशिन इत्युच्यन्ते । ' हरि० भा०, 13/2/5/1 .



देवताओं के लिये आलभान का विधान है । किन्तु हरिस्वामी के उक्त मत को समीचीन नहीं कहा जा सकता । इसे उचित न मानने में अनेक हेतु हैं ।

प्रथम तो यह कि ब्राह्मण पंद्रह की निश्चित संख्या में आलभान किये जाने वाले पशुओं को पंचदशिनी कहता है<sup>1</sup>, संहिता में पंद्रह की संख्या में एक साधा वर्णित हुए पशुओं को नहीं<sup>2</sup>; जैसा कि हरिस्वामी ने समझा है । द्वितीय यह कि 'अश्वस्तूपरां गोमृगः' (24/1) इस कण्डिका में पशुओं की संख्या पंद्रह है । संख्या 'पंद्रह' होने के कारण हरिस्वामी के मतानुसार इस कण्डिका में वर्णित हुए पशु पंचदशिनी हुए । किन्तु ब्राह्मण ने इन्हें किसी एक स्थान पर भी पंचदशिनी नहीं कहा है । वह इन्हें बार-बार पर्यङ्गय कहता है<sup>3</sup> । कात्यायन, कात्यायन श्रौतसूत्र के सभी टीकाकार और स्वयं हरिस्वामी भी इन में से अधिकांश को पर्यङ्गय मानने के पक्ष में हैं<sup>4</sup> । तब इन्हें पंचदशिनी क्यों मान लिया जाय । तृतीय यह कि संहिता के चौबीस वे अध्याय की 14, 15, 16, 17, 18 और 19 वीं कण्डिकाओं में वर्णित पशुओं को उबट,

1. 'त पंचदशभिरनु प्रायुक्त । तमाप्नोत् । तमाप्त्वा पंचदशिभि-  
रारुन्धा । अर्धमासानां वा एषा प्रतिमा । यत्पंचदशिनः ।'  
श. भा. 13/2/5/1.

2. 'तत्र यासु पंचदश पश्यन्ते । तासु ये पशवः ते पंचदशिन इत्युच्यन्ते ।'  
हरिभाष्य, वही ।

3. श. भा. 13/2/2/10, 13/5/1/13

4. (क) का. श्रौ. सू. 20/6/4;

(ख) 'नियुनक्ति इति वर्तते' क०भा० 20/6/4

(ग) 'कृष्णाग्नीव आग्नेयो रराटे' इत्यादयः 'वैष्णवी वामनः' इत्यन्ता  
पर्यङ्गयसंज्ञकाः ।' देवपात्रिक, 20/6/4

(घ) सं. सा. 20/6/4

(ङ) 'यदि पुनरश्वस्य पर्यगानि रराटादीनि तेषु भवाः पर्यग्या  
इति स्यात् ततः कृष्णाग्नीवादयो द्वादशैव पर्यग्याः स्युः ।'

हरिभा० 13/2/2/10

महीधार और स्वयं हरिस्वामी ने स्पष्ट शब्दों में 'वातुर्मास्य' पशु माना है। ब्रह्मण 'वातुर्मास्य' पशुओं को 'पंचदशिनी पशुओं' से पृथक् मानता है<sup>2</sup>। कण्डिका संख्या सौलह में पशुओं की संख्या पंद्रह है। अतः हरिस्वामी की उक्त परिभाषा के अनुसार सौलहवीं कण्डिका के पशु पंचदशिनी हुए 'वातुर्मास्य' नहीं, जैसा कि वे मानते हैं<sup>3</sup>। वतुर्थ यह कि कण्डिका संख्या तीन, चार, नौ और ग्यारह ऐसी है जिन में से किसी में भी पशुओं की संख्या पंद्रह नहीं है। इनमें क्रमशः 12, 18, 18 और 18 पशुओं का विभिन्न देवताओं के निमित्त आलोकन किये जाने का विधान है। अतः हरिस्वामी के मतानुसार इन कण्डिकाओं में आये पशु पंचदशिनी नहीं हुए। किन्तु इन पशुओं का पर्यङ्गय, वातुर्मास्य और एकादशिनी वर्गों में से किसी में भी नहीं भी परिगणन नहीं हुआ। 'तब ये क्या है?' इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। अतः इन समस्त कारणों से पंचदशिनी के सन्दर्भ में हरिस्वामी की मान्यता को उचित नहीं माना जा सकता।

1. (क) 'अथा वातुर्मास्यदेवाः पशुक रवेताः सौर्या' (वा. सं 24/19)

इत्यन्ताः/ '30 भा. 24/14

(ख) 'अथा वातुर्मास्यदेवाः पशुक रवेताः सौर्या' (वा. सं 24/19)

इत्यन्ताः । 'म भा. 24/14

(ग) 'वातुर्मास्येभ्यो वैश्वदेववस्थाप्रधाससाकमेध शुनासीरीयात्मकेभ्यः ।'

हरि. भा. 13/2/5/1

(घ) 'वातुर्मास्यदेवताकान् पशून् कृष्णाग्नीवा आग्नेया वधाक

सौर्या उपध्वस्ताः सावित्राः' (वा. सं 24/14) इत्यादीन् ।'

वही, 13/2/5/2

2. (क) 'तदा ह्यनवस्धा वा एतस्य संवत्सरो भवति। यो ऋक् वातुर्मा-

सेभ्य संवत्सरं तनुते इति।' श. ब्रा. 13/2/5/2

(ख) 'ततश्च पंचदशभिस्त्वनवस्धा भवति। संवत्सरो नात्र स्थ्यते-

त्यर्थः। कथा हि संवत्सरो स्थ्यत इत्यत आह-एष वै साक्षात्

संवत्सरः। यानि वातुर्मास्यानि ।' हरि. भा. वही ।

3. (क) 'वातुर्मास्य देवताकान् पशून् कृष्णाग्नीवा आग्नेया वधाक सौर्या

उपध्वस्ताः सावित्राः' (वा. सं 24/14) इत्यादीन् ।'

हरि. भा. 13/2/5/2

(ख) 'वातुर्मास्येभ्यो वैश्वदेव वस्थाप्रधाससाकमेध शुनासीरीयात्मकेभ्यः ।'

वही .

पंचदशिनी पशुओं के सन्दर्भ में संभवतः उचित यह है कि ग्राम्य पशुओं को पंद्रह की निश्चित संख्या में यूपों में आलभान विहित होने से 'पंचदशिनी' ग्राम्यपशुओं का सामान्य अभिधान के है, किन्तु इनके सन्दर्भ में यह स्मरण रखाने योग्य है कि जिन ग्राम्यपशुओं के गुण वैशिष्ट्य के कारण 'पर्यङ्गय' 'चातुर्मास्य' आदि विशेष अभिधान है उन्हें सामान्यतया 'पंचदशिनी' पद से व्यवहृत नहीं किया जाता । 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' न्याय से अपनी विशेष

1. 'पञ्चदश पञ्चदश उ एवैतरेषु' (श. ब्रा. 13/2/2/11) वाक्य यूपों में आलभान होने वाले देवता पशुओं के सन्दर्भ में ब्राह्मण का सिद्धान्त वाक्य है । 'सप्तदशैव पशून् मध्यमे यूप आलभेत' ( श. ब्रा. 13/2/2/13, 13/5/1/15); 'षोडशषोडशोतरेषु' (श. ब्रा. 13/2/2/13; 13/5/1/15) वाक्यों की सद्गति 'एकादशिनी' पशुओं को इनमें सम्मिलित कर लेने में है । मध्यम यूप में दो एकादशिनी रहने के कारण आलभान किये जाने वाले पशुओं की समग्र संख्या सत्रह हो जाती है । शेष बीस यूपों में प्रत्येक में एक 'एकादशिनी' पशु रहने के कारण पशुओं की समग्र संख्या सातह रहती है । 'द्वे त्वेकै एकादशिन्या आलभेत ।' (श. ब्रा. 13/5/1/3) 'एष वै स प्रति स्वर्गं लोकं । यदेकादशिनी प्रजा वै पशवः एकादशिनी । यदेकादशिनान् पशूनालभते न स्वर्गं लोकमपराध्नाति न प्रज्या पशुभिर्व्युध्यते' ( श. ब्रा. 13/2/5/2) 'वि वा एषा प्रज्या पशुभिर्व्युध्यते अप स्वर्गं लोकं राध्नाति यो न्यत्रैकादारी नेभ्यः संवत्सरं तनुते इति' (श. ब्रा. 13/2/5/2) इत्यादि वाक्य यूपों में ही एकादशिनी पशुओं का आलभान करने में पक्ष में हैं ।

विशेषताओं के कारण वे 'पर्यङ्गय' 'चातुर्मास्य' आदि विशेष अभिधानों से ही व्यवहृत होते हैं ।

अतः कहा जा सकता है कि 'संहिता' ( वा. सं 24/2 ) से पहले के अश्वदि पंद्रह ग्राम्य पशु 'पर्यङ्गय' हैं । 'कृष्णग्रीवा आग्नेया' ( वा. सं 24/14 ) से 'श्वेताः सौर्याः' ( वा. सं 24/19 ) तक के पशु 'चातुर्मास्य' हैं । 'संहिता धूमरसंहिता' ( वा. सं 24/2 ) से 'धेनवो तिच्छन्दसे' ( वा. सं 24/13 ) तक के 186 ग्राम्यपशु 'पंचदशिनी' हैं । ये एक ही क्रियाशील पशु ही प्रमुखा रूप से पंचदशिनी इसलिये हैं कि संहिता ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में कहीं भी पंचदशिनी से अतिरिक्त इनका कोई विशेष अभिधान नहीं मिलता ।

## IV

चातुर्मास्य पशु

अश्वमेध में आलभन किये जाने वाले पशुओं का विधान करने के प्रसङ्ग में शतपथ में एक वाक्य आता है 'उस (यजमान) के लिये संवत्सर अनवस्था रहता है जो चातुर्मास्य से अतिरिक्त किसी अन्य रीति से संवत्सर को करता है । जो चातुर्मास्य है, वे निश्चित ही साक्षात्-संवत्सर हैं<sup>1</sup> । 'इगतिग आदि विद्वान् यहाँ 'संवत्सर' पद का अर्थ 'वर्ष' और 'चातुर्मास्य' पद का अर्थ 'चातुर्मास्य यज्ञ' करते हैं । संवत्सर के वर्ष स्म शब्दार्थ और चातुर्मास्ययज्ञ के द्वारा वर्ष पर नियंत्रण कर लेने स्म आर्या के दृढ़ विश्वास को कि बद् भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण का ही कहना है 'अक्षाय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्य-याजिनो भवति । संवत्सरं हि जयते । तेनास्याक्षाय्यं भवति ।<sup>2</sup> किन्तु संवत्सर का वर्ष अर्थ होने एवं चातुर्मास्ययज्ञ से वर्ष को जीत लेने या अक्षाय्य सुकृत को प्राप्त करने से सुपरिचित होने के साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात है कि शतपथ ब्राह्मण ही अनेक स्थानों पर संवत्सर को 'अश्वमेध' कहता है,<sup>4</sup> इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय बताता है<sup>5</sup> और अश्वमेध के बहुत से फलों में से एक फल 'संवत्सर विजय' प्रतिपादित करता

1. 'अवस्था' वा एतस्य संवत्सरः भवति या अन्यत्र चातुर्मास्यः संवत्सरं तनुते इति । एष वै साक्षात्संवत्सरः यच्चातुर्मास्यानि ।'

श. ब्रा. 13/2/5/2 .

2- (क) इगतिग अनुवाद, वही । छाण्ड 5, पृ० 309 ।

(छा) गंगा प्रसाद उपाध्याय, रत्नदीपिका हिन्दी टीका, तृतीय भाग, पृ० 1704 ।

3 श. ब्रा. 2/6/3/1 ;

4 श. ब्रा. 13/1/2/1 ; 13/3/3/8 ; आदि ।

5 वही, 10/6/4/1 ; 13/4/1/5 ; आदि ।

है । अन्य कारणों के अतिरिक्त यदि वर्षाभार में समाप्त होने मात्र के हेतु से चातुर्मास्य 'संवत्सरजय' का प्रदान करने वाला है तो यह स्थिति अश्वमेध की भी है<sup>2</sup>। अतः ब्राह्मण के प्रस्तुत वाक्य में 'संवत्सरम्' का 'वर्ष' अर्था करना और 'चातुर्मासेभ्यः' का 'चातुर्मास्ययज्ञ' या 'चातुर्मास्ययज्ञ के अद्गभूत वैश्वेदेवादि यज्ञों के अर्धा में ग्रहण करना उचित नहीं है ।

शतपथ में प्रस्तुत वाक्य से ठीक पहले आने वाले वाक्य में अश्वमेध के यजमान के लिये विभिन्न देवताओं के निमित्त प चदशिनी पशुओं का यूपों में आलभन करने का विधान है<sup>3</sup>। प्रस्तुत वाक्य के अन्तिम चरण में ब्राह्मण चातुर्मास्य पशुओं के आलभन का विधान करता है<sup>4</sup>। अतः, पूर्वा पर प्रसङ्ग को दृष्टि में रखाते हुए यहाँ 'संवत्सरम्' का अर्था 'अश्वमेध' और 'चातुर्मासेभ्यः' का अर्था 'अश्वमेध के चातुर्मास्यपशु' करना ही उचित है । ब्राह्मण यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता है कि यजमान अश्वमेध में 'चातुर्मास्य' पशु विशेषों का आलभन न करके संवत्सर विजय के सहायक केवल प चदशिनी आदि ब्रह्मशा पशुओं के आलभन से ही उसे सम्पन्न कर यदि संवत्सर या संवत्सर से उपलब्धित काल पर विजय प्राप्त करना चाहता है, तो यह संभव नहीं है । प चदशिनी आदि पशुओं का यूपों में आलभन संवत्सर रूप कालविजय में सहायक अवश्य है क्योंकि ब्राह्मण प चदशिनियों को संवत्सर के ही एक भेद 'अर्धमासा' की प्रतिमा बताता है<sup>5</sup>, किन्तु प चदशिनी पशुओं का अश्व-

1- वही, 13/1/6/6; 13/5/1/15 आदि ।

2- 'द्वादश मासाः संवत्सरः । सर्वं संवत्सरः । सर्वं अश्वमेधः । सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावस्थाये ।' वही, 13/4/1/5 ।

3- वही, 13/2/5/1 ।

4- 'यच्चातुर्मास्यान् पशूनालभते साक्षादेव तत् संवत्सरमवस्थी ।'

5- 'अर्धमासानां वा एषा प्रतिमा यत्पचदशिनः ।' वही, 13/2/5/1

मेध के यूपों में आलभन संभवतः संवत्सर स्म पूर्ण कालज्य' का कारण नहीं है, क्योंकि शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी का विचार है कि 'तत्र प चदशभिः संवत्सराप्ता य आहुः आप्नोति संवत्सरस्य'। यजमान के लिये संवत्सरज्य स्म काल की गति पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये ब्राह्मण अश्वमेध में चातुर्मास्य पशुओं का आलभन किया जाना आवश्यक समझता है। उसकी दृष्टि में प चदशिनी पशुओं की भांति चातुर्मास्यपशु केवल संवत्सर के अर्धमासों की प्रतिमा नहीं है वरन् साक्षात् संवत्सर ही है<sup>2</sup>। हरिस्वामी भी संवत्सर विजय रूप फल प्राप्ति के लिये अश्वमेध में चातुर्मास्य पशुओं का आलभन अपरिहार्य समझते हैं। इसी को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने विचार प्रकट किया है कि प चदशिनियों के आलभन से यजमान निश्चित ही अपापी होता है<sup>3</sup>। इस उपलब्धि को संवत्सरज्य की पृष्ठभूमि भी कहा जा सकता है। 'आहुः आप्नोति संवत्सरस्य' कह कर हमने इसे स्वीकार भी किया है<sup>4</sup>। किन्तु मात्र प चदशिनियों का आलभन करने वाले यजमान के लिये संवत्सर अवसृधा नहीं होता<sup>5</sup>। चातुर्मास्य ही संवत्सर का साक्षात् रूप है<sup>6</sup>। अतः संवत्सरज्य के लिये संवत्सरस्म चातुर्मास्यों का तद् तद् देवता के निमित्त आलभन आवश्यक है<sup>7</sup>।

1. हरिस्वामी भाष्य, 13/2/5/2 ।

2. 'एष वै साक्षात् संवत्सरः यच्चातुर्मास्यानि' श. ब्रा. 13/2/4/2 .

3. 'अवश्यं पुनरपापी भवति यश्चातुर्मासेभ्यो... अन्यत्र संवत्सरं तनुते ।

ततश्च प चदशभिरनवसृधा भवति । संवत्सरौ नात्र स्थ्यतेत्यर्थः । '

पृ० 2854 .

4. 'तत्र प चदशभिः संवत्सराप्ता य आहुः आप्नोति संवत्सरस्य'। वही ।

5. 'ततश्च प चदशभिरनवसृधा भवति । संवत्सरौ नात्र स्थ्यतेत्यर्थः । 'वही ।

6. 'एष वै साक्षात् संवत्सरः यानि चातुर्मास्यानि । चातुर्मास्यदेवताकान् पशून्' 'कृष्णाग्नीषा' (वा. सं 24/14) इत्यादीन्... । 'वही ।

7. 'साक्षादेव संवत्सरमवसृधे इति चातुर्मास्यदेवतापशुषु दर्शनम् । '

वही, पृ० 2855 .

अतः पूर्वा पर प्रसङ्ग, ब्राह्मण के अभिप्राय और हरिस्वामी की व्याख्या से यही स्पष्ट होता है कि पशु अलिभन के सन्दर्भ में आये उपर्युद्धृत वाक्य में 'संवत्सर' का अर्थ 'अश्वमेध' और 'चातुर्मास्येभ्यः' का अर्थ अश्वमेध के चातुर्मास्यपशु करना ही उचित है, इनका क्रमशः 'वर्ष' और 'चातुर्मास्ययज्ञ' अर्थ करना उचित नहीं, जैसा कि विद्वानों ने किया है।

ब्राह्मण 'एष वे साक्षात्संवत्सरः यच्चातुर्मास्यानि' वाक्य में 'चातुर्मास्यानि' में बहुवचन का जो प्रयोग कर रहा है वह चातुर्मास्ययज्ञ में संपूजित होने वाले अग्नि, सोम, सवितृ आदि देवताओं के लिये अश्वमेध में पशुओं का अलिभन प्रकट करने के लिये है चातुर्मास्ययज्ञ के अद्भुत वैश्वदेव वस्त्रप्रधास आदि यज्ञों का बहुत्व प्रकट करने के लिये नहीं जैसा कि इगलिंग ने समझा है<sup>2</sup>। 'चातुर्मास्यानि' पद वैश्वदेव आदि का वाचक इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि वे सभी परस्पर मिलकर 'चातुर्मास्ययज्ञ' कहलाते हैं, उन में से कोई एक किसी भी स्थल पर 'चातुर्मास्ययज्ञ' नहीं कहा गया। वैश्वदेव, वस्त्रप्रधास और साकमेध के चार-चार महीनों से सम्बद्ध होने के कारण<sup>3</sup> यदि हम इन्हें स्वतंत्र रूप से 'चातुर्मास्य' कहना भी चाहे तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि चातुर्मास्य के शुनासीरीय पर्व के सन्दर्भ<sup>4</sup> में ब्राह्मण का कहना है: 'स यत्रैव साकमेधयजेत तत् शुनासारीयं यजेत'। ब्राह्मण ने एक चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले यजमान के लिये संवत्सरयज्ञ और अक्षाय फल प्राप्त करने की बात कही है<sup>5</sup>। अतः इस हेतु से भी 'चातुर्मास्यानि' पद वैश्वदेव आदि का वाचक नहीं हो सकता। हरि-

1. श. ब्रा. 13/2/5/2 ।

2. 'द सीजनल सैक्रीफीसेज, डाउटलैस, आर मैनीफेस्ट ली द ईजर';  
इगलिंग अनुवाद, वही ।

3. श. ब्रा. 2/5/2/4 ।

4. (क) वही, 2/6/3/10 ।

(छा) देवै, हरिस्वामी भाष्य पृ० 574; कात्या० श्रौ० सू० 5/277 ।

5. श. ब्रा. 2/6/3/1 ।



स्वामी ने यहाँ 'चातुर्मास्यानि' पद की व्याख्या 'चातुर्मास्यानि चातुर्मास्यदेवताकान् पशून् कृष्णाग्नीवा आग्नेया वभक् सौम्याः उपध्वस्ता सावित्राः' (वा. सं 24/14) इत्यादीन् की है और यही उचित है।

कात्यायन प चदशिनी और चातुर्मास्य पशुओं में आलभन या फल प्राप्ति की दृष्टि से कोई भी व्यावहारिक अथवा सैद्धान्तिक अन्तर नहीं करते। वे इन समस्त पशुओं को 'रोहितादीन्सौर्यान्तान्' कह कर व्यवहृत करते हैं<sup>2</sup>। किन्तु वाजसनेयी संहिता के दोनों ही प्रमुखा भाष्यकार उबट और महीधर ने चौबीसवें अध्याय के 14 से 19 तक की कण्डिकाओं में वर्णित हुए समस्त पशुओं को हरिस्वामी की भाँति चातुर्मास्ययज्ञ के देवताओं के पशु ही माना है<sup>3</sup>। यूपों में चातुर्मास्य पशुओं के आलभन की व्यवस्था को उचित रूप में समझाते हुए भी इन पशुओं की समग्र संख्या और आलभन का आश्रय बनने वाले अश्वमेध के यूपों की संख्या के सम्बन्ध में इगलिंग का गणित पूरी तरह से गलत रहा है। उनका तैरहवें यूप के अन्तिम छः पशुओं को चातुर्मास्य मानना सर्वथा उचित है। किन्तु 14 से 21 तक के शेष यूपों को 'सात' गिनना और प्रतियूप में 15 चातुर्मास्य पशुओं के आलभन की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी चातुर्मास्यों की समग्र संख्या 126 न मान कर 121 मानना उनकी गणित सम्बन्धी असावधानी का ही परिचायक है। अतः यही मानना उचित है कि वाजसनेयी संहिता के चौबीसवें अध्याय की 14-19 तक की छः कण्डिकाओं 'अग्नि' आदि देवताओं के निमित्त जिन के आलभन का विधान है वे 126 कृष्णाग्नीव आदि पशु ही अश्वमेध के चातुर्मास्य पशु हैं।

1. हरि०भा०पृ० 2855 ।

2. का. श्री. सू. 20/6/5

3. (क) 'अथा चातुर्मास्यदेवाः पशवः श्वेताः सौर्या इत्यन्ताः । तत्र प्रथमं वैश्वदेवपर्वपशव उच्यन्ते । कृष्णाग्नीवाः त्रयः आग्नेयाः । 'उ०भा० 24/14 (७८)' ,, ,, ,, ,, 'मही०भा० वही

4. इगलिंग, सै. कु. आ. ई. सी. शतपथ ब्राह्मण, भाग 5, पृ० 309,

अश्वमेध के तेरहवें से इक्कीसवें यूपों तक में आलभान किये जाने वाले इन 126 पशुओं का 'चातुर्मास्य' अभिधान पड़ने के कारण पया स्पष्ट हैं। यद्यपि 'चातुर्मास्य' स्वयम् में एक ऐसा यज्ञ है, जिस में देवताओं के निमित्त पशुओं का आलभान नहीं होता, केवल चरु, पुरोडाश हवियों के द्वारा ही उन्हें तृप्त किया जाता है<sup>2</sup> किन्तु अश्वमेध में जिन देवताओं के निमित्त इन निश्चित 126 पशुओं का आलभान होता है वे देवता वह हैं जो चातुर्मास्ययज्ञ के विभिन्न पर्वों और इष्टियों के देवता हैं<sup>3</sup> अश्वमे-

1. देहो, शोध प्रबन्ध पृ० से तक।

2. श. ब्रा. 2/5/1/8-17; 2/5/2/7-16; 2/5/3/2-4; 2/5/4/2-10; 2/6/1/4-6; 2/6/2/3, 6; 2/6/3/4-8।

3. अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती, पूषन्, मस्तु, वैश्वदेव, द्यावापृथ्वी, इन्द्र अग्नि वस्त्र 'क' अनीकवत् अग्नि, सातपनमस्तु, गृहमेदिनमस्तु, क्रीडिमस्तु, स्वतवत्-मस्तु, महेंद्र, विश्वकर्मा, सोमपितर, वहिषद् पितर, अग्निष्वात्त पितर, त्र्यम्बक, शुनासीरीय, वायु और सूर्य इन 25 देवताओं के निमित्त अश्वमेध में तेरह से इक्कीस तक के यूपों में चातुर्मास्य पशुओं का आलभान होता है। ये सभी चातुर्मास्ययज्ञ के विभिन्न पर्वों के देवता हैं। यही स्मरण रहाने योग्य है कि इगलिंग ने चातुर्मास्ययज्ञ से सम्बन्धित देवताओं की समग्र संख्या 'ग्यारह' बताई है। (देहो-इगलिंग अनुवाद, श. ब्रा. 13/5/1। 14 एवं शतपथ भाग-5, पृ० 383, पाद टिप्पणी संख्या-2)। किन्तु उनका ऐसा मानना तथ्यों को गलत रूप में उपस्थात करना है जो अपने में सर्व-था अनुचित तो है ही, अत्यन्त भ्रामक भी है। चातुर्मास्य देवताओं के सन्दर्भ में यथार्थ तो यह है कि पुनर्भक्ति (अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती और पूषन् के संबन्ध में होने वाली पुनर्भक्ति) को बचाकर इन पच्चीस में से केवल इक्कीस को ही ब्राह्मण ने देवता स्वीकार किया है (श. ब्रा. 13/5/3/4) सायण का स्पष्टीकरण है कि सोम, वहिषद् और अग्नि-ष्वात्त पितरों को तो देवता इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि ये देवता नहीं हैं अपितु 'पितर' हैं। 'त्र्यम्बक' देवता इसलिये नहीं है क्योंकि ये 'अप्रधान' हैं। (देहो, हरि० भा० 13/5/3/4)।

में इन निश्चित 126 पशुओं का तद्-तद् देवता के निमित्त आलभन किये जाने का क्रम भी वही है जो चातुर्मास्य यज्ञ में उन-उन देवताओं के लिये हविष् प्रदान करने का क्रम रहा है। अतः कहा जा सकता है कि उभयत्र में देवतासाम्य एवं हविष् प्रदान और पशुआलभन में क्रम साम्य ही वे प्रधान हेतु हैं जिन के कारण इनका 'चातुर्मास्य' अभिधान है।

चातुर्मास्य यज्ञ के देवताओं के निमित्त अश्वमेध में चातुर्मास्य-पशुओं का आलभन करने के प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण में दो प्रकार के विचार मिलते हैं। इन में से एक के अनुसार प्रत्येक चातुर्मास्यदेवता के निमित्त इक्कीस-इक्कीस पशुओं का यूपालभन करना चाहिये<sup>1</sup>। ऐसा किये जाने के मूल में तर्क दिया गया है कि जितने चातुर्मास्य के देवता हैं उतने सब देवता हैं। अश्वमेध में समस्त कामनाओं की पूर्ति है, सब देवताओं को प्रसन्न करके सब कामनाओं को प्राप्त करता है<sup>2</sup>। किन्तु स्वयं शतपथ ब्राह्मण को ही अपना प्रस्तुत विकल्प स्वीकार नहीं है। उक्त विकल्प की हेतु निर्देश पूर्वक संभावना उपस्थापित करने के बाद वह निर्णय करता है 'न तथा कुर्यात्'<sup>3</sup>। उपस्थापित करके भी ब्राह्मण प्रस्तुत विकल्प का जो प्रतिवाद करता है उसका कारण संभवतः यह है कि चातुर्मास्ययज्ञ के देवताओं की समग्र संख्या से वह परिचित है। प्रत्येक देवता के लिये इक्कीस चातुर्मास्यों का आलभन किये जाने पर चातुर्मास्य पशुओं को बहुत अधिक होना चाहिये। वाजसनेयी संहिता चातुर्मास्यों की संख्या 126 ही बताती है<sup>4</sup>। अतः ब्राह्मण उक्त विकल्प की संभावना उत्पन्न करके भी उसे व्यावहारिक न समझ कर उस का

1- 'चातुर्मास्यदेवताभ्यः एकविंशतिमेकविंशति पशूनालभते।'।

श. ब्रा. 13/5/1/14.

2- 'एतावन्तौ वै सर्वे देवाः। यावत्पश्वा चातुर्मास्यदेवताः। सर्व कामा अश्वमेधे। सर्वान् देवान् प्रीत्वा सर्वान् कामान् पुनवान्तीति।' वही।

3- वही।

4- वा. सं 24/14-19.

निर्णय कर देता है । ब्राह्मण के दूसरे विकल्प के अनुसार चातुर्मास्य-यज्ञ के समस्त देवताओं के लिये अश्वमेध में कुल 126 चातुर्मास्य पशुओं का आलभन किया जाना चाहिये । इनमें से प्रधान देवता अग्नि, सोम सवितृ, सरस्वती और पूषा के निमित्त बारह-बारह पशुओं का आलभन होना चाहिये और शेष मस्तु वैश्वदेव आदि अप्रधान देवताओं के लिये तीन-तीन पशुओं का । ब्राह्मण का चातुर्मास्यों के आलभन के सन्दर्भ में व्यक्त हुआ उक्त द्वितीय विकल्प उसके 'सप्तदशीष पशून्मध्यमे यूप आलभत' 'षाडश षाडशतरेषु' इन दो वाक्यों का संपिण्डार्थ है<sup>1</sup> । कात्यायन हरिस्वामी, उबट और महीधर आदि सभी विद्वानों को ब्राह्मण का उक्त द्वितीय विकल्प ही स्वीकृत है ।<sup>2</sup> इस विकल्प के अनुसार यूपों में हुआ चातुर्मास्यों का आलभन विस्तार से आगे वर्णित है ।

चातुर्मास्य पशुओं के सन्दर्भ में यह जान लेना भी अनावश्यक न होगा कि इन में तीन कृष्णाग्नीष पशु, तीन कपिल वर्ण के पशु, तीन अथ पतन गुण विशिष्ट या वर्णान्तर्भ्रित पशु, तीन वत्सतरी और तीन शुक्लवर्ण पशु-ये पंद्रह ऐसे पशु हैं जिन्हें 'संचर' माना गया है।<sup>3</sup> चातुर्मास्ययज्ञ के वैश्वदेव आदि चारों पक्षों के पांच प्रधान देवता-अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती और पूषा के निमित्त अश्वमेध में इनका क्रमशः और बार बार आलभन होता है, इसीलिये ये 'संचर' हैं । इन में से प्रत्येक

1. (क) श. ब्रा. 13/2/2/13 .

(७) वही, 13/5/1/15 .

2. का. श्रौ. सू. 20/6/5, हरि० भा० 13/2/2/13; उ. भा० 24/14,

म. भा० 24/14; क. भा० 20/6/5; सं. सा. 20/6/5 .

3. (क) 'संचरशब्देन कृष्णाग्नीषा आग्नेया इत्यादयः पूर्वकण्ठिकोक्ताः प. चदश

पशवः उच्यन्ते । 'उ. भा० 24/15 ।

(७) 'संचर शब्देन कृष्णाग्नीषा आग्नेया इत्यादयः पूर्वकण्ठिकोक्ताः

प. चदश पशवः उच्यन्ते । 'म. भा० वही ।

(ग) वा. सं. 24/15 .

एक गुण विशिष्ट पशु की अपनी निजी संख्या 12 रहती है और संचर पशुओं की समग्र संख्या  $12 \times 5 = 60$  ।

चातुर्मास्य पशुओं के सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखाने योग्य है कि 'साकमेध' चातुर्मास्ययज्ञ का एक ऐसा पर्व है जिसमें अनेक अवान्तर दृष्टियाँ होती हैं<sup>1</sup>। 'महाहवि' और 'पित्र्येष्टि' साकमेध की दृष्टियाँ ही हैं। साकमेध में महाहविदृष्टि सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि अश्वमेध के पद्धत संचर चातुर्मास्यों का स्वयम् साकमेध के देवताओं के निमित्त आलभन न लेकर प्रधान दृष्टि महाहवि के प्रधान देवता अग्नि आदि पाँच के निमित्त आलभन होता है<sup>2</sup>। वैश्वदेव, वसुप्रधास, साकमेध, महाहवि, पित्र्येष्टि और शुनासीरीय के देवताओं के निमित्त अश्वमेध में संचर चातुर्मास्यों को सम्मिलित करके क्रमशः 24, 27, 15, 24, 12<sup>3</sup> और 24 चातुर्मास्यों का आलभन होता है, जिनकी कुल संख्या 126 है।

### प्रतीकात्मकता

'चातुर्मास्य पशुओं' की प्रतीकात्मकता उन्हें संवत्सर की अवस्था करने वाला बताने और संवत्सर का साक्षात् रूप बताने में निहित है। चातुर्मास्यों के सन्दर्भ में ब्राह्मण के उक्त निगूढ अभिप्रायों की सही रूप में तभी समझा जा सकता है जब हम 'चातुर्मास्ययज्ञ' के मूल में झाँक कर देखें।

चातुर्मास्ययज्ञ के अद्भुत 'वैश्वदेव' के सम्बन्ध में आख्यायिका है कि प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिये इसे किया<sup>4</sup>। ब्राह्मण का कहना है कि यजमान अपने ही को प्रजापति रूप में स्थापित करके

1. महाहवि, पितृयज्ञ, और त्र्यम्बकहवि 'साकमेध' में क्रमशः आने वाली तीन दृष्टियाँ हैं।

2. बा. सं. 24/17 ।

3. वही, 24/14-19 ।

4. श. भा. 2/5/1/1-6 ।

वैश्वदेव को करता है<sup>1</sup>। कात्यायन श्रौत सूत्र का कहना है कि प्रजा की कामना के लिये वैश्वदेव करे<sup>2</sup>। ब्राह्मण और श्रौतसूत्र के इन कथनों से स्पष्ट है कि वैश्वदेव को करने वाला यजमान प्रजा को उत्पन्न करने का साधनत्व प्राप्त करने के लिये इस को करता है। एक अन्य स्थल पर वैश्वदेव के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि प्रजा की उत्पत्ति के लिये प्रजापति ने इस यज्ञ को करके जिस 'प्रजाति' और 'श्री' को प्राप्त किया, जो विद्वान् यजमान वैश्वदेव को करता है वह उसी 'प्रजाति' और 'श्री' को प्राप्त करता है<sup>3</sup>। वैश्वदेव के सम्बन्ध में आये उक्त समस्त उल्लेख संकेत करते हैं कि वैश्वदेव का यजमान उन सभी गुण-धर्मों से युक्त हो जाता है जो प्रजापति के अपने गुण-धर्म हैं।<sup>4</sup> किन्तु शतपथ की दृष्टि में प्रजापति और संवत्सर में तादात्म्य है।<sup>4</sup> उसकी दृष्टि में केवल संवत्सर ही प्रजापति का रूप नहीं है बल्कि संवत्सर पर्यन्त चलने वाला अश्वमेध<sup>5</sup> और ऐसे अश्वमेध का यजमान भी प्रजापति का रूप है<sup>6</sup>। अतः अश्वमेध और वैश्वदेव के यजमान सामान्य या वैश्वदेव के यजमान विशेष के लिये संवत्सर रूप प्रजापति की 'प्रजाति' 'श्री' और 'सर्वकारणता' प्राप्त करने का साधन वैश्वदेव हुआ। किन्तु वैश्वदेव की

1. वही, 2/5/1/7 .

2. का. श्रौ. सू. 5/2/20 .

3. 'एतेन वै प्रजापतिर्यज्ञेन नेष्ट्वा येन प्रजापतेः प्रजातिः, या श्रीः एतद्बभूव। एतां ह वै प्रजातिं प्रजायते एतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजेते।' श. ब्रा. 2/5/1/22 .

4. श. ब्रा. 13/1/2/1, 13/3/3/8; 13/4/1/5; आदि।

5. 'सप्तदशा वै प्रजापतिः (संभवतः बारह माह और पाँच ऋतुएँ)। प्रजापतिरश्वमेधः।' वही, 13/2/2/13 .

6. 'यजमानो वा अश्वमेधः। यजमानो यज्ञः।' वही, 13/2/2/1 .

पूर्णाता उस में अग्नि आदि प्रधान देवों के निमित्त दी जाने वाली पंच हवियों की अविकलता के साथ जुड़ी है<sup>1</sup>। अश्वमेध के साथ याग होने के कारण इस में वैश्वदेव के उक्त प्रधान देवों के निमित्त हविष के स्थान पर चातुर्मास्य पशुओं का यूपों में आलभन करने का विधान है<sup>2</sup>। अतः 'चातुर्मास्य' संवत्सर स्म प्रजापति को या यों कहे उस की 'प्रजाति' 'श्री' और 'सर्वकारणता' को अश्वमेध के यजमान के लिये भी प्राप्त कराने के हेतु हुए। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण 'चातुर्मास्यो' को यदि संवत्सर को अवस्था करने वाला या संवत्सर का साक्षात् स्म कहता है तो उचित ही तो है।

ब्राह्मण का कथन है कि प्रजापति ने वस्थाप्रधास यज्ञ करके प्रजाओं को वस्था के जो छा लेने के अपराध से मुक्ति दितार्ह, उन्हें वस्था के पाश से मुक्त किया<sup>3</sup>। उस का यह भी कहना है कि जो यजमान वस्था प्रधासयज्ञ करता है उसकी उत्पन्न हुई और आगे उत्पन्न होने वाली प्रजायें भी वस्था देवता के पाश से मुक्त हो जाती है। रोग रहित और पाप रहित प्रजायें उत्पन्न होती हैं<sup>4</sup>। ब्राह्मण के उक्त दोनों कथनों से स्पष्ट है कि वस्थाप्रधास का यजमान पापरहित रोग रहित वस्थापाश रहित परिणामतः अमर या दीर्घजीवी प्रजाओं को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। वस्थाप्रधास के यजमान को रोग रहित पापरहित एवं वस्थापाश रहित प्रजाओं को उत्पन्न करने वाला बताने में संभवतः ब्राह्मण का अभिप्राय यह है कि वह इस यजमान को जीवन, मृत्यु एवं देशकाल आदि को विजित कर लेने की शक्ति से सम्पन्न हुए व्यक्ति के रूप में उपस्थात करना

1. वही, 2/5/1/8-11 .

2. वही, 13/2/2/13 .

3. वही, 2/5/2/1, 2 .

4. वही, 2/5/2/3 .

चाहता है । 'संवत्सर अवरोधा' या 'संवत्सरजय' उक्त यजमान की वस्त्र-प्रधास अर्जित शक्ति का ही संक्षिप्त अभिधान है । अतः अश्वमेध में वस्त्रप्रधास के देवताओं के निमित्त आलभन किये जाने वाले 'वातु-मर्स्य' यदि संवत्सर को अवस्था करने वाले या संवत्सर के साक्षात् रूप कहे जाते हैं तो अत्युक्ति क्या है ।

साकमेध के सम्बन्ध में कहा गया है कि इस के द्वारा देवताओं ने आवरणशील वृत्रासुर का वध किया था । देवताओं को वृत्रवध से जो विजय श्री मिली साकमेध का यजमान अपनी प्रजाओं को उसी विजयश्री को प्राप्त कराता है । वह स्वयम् भी पापस्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है और पाप के सजातीयों से निवृत्त हो सर्वत्र विजय को प्राप्त करता है । साकमेध की पित्र्येष्टि के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो यजमान इसे सम्पन्न करता है उस के किसी भी पुरुष को असुर नहीं मारते । देवों ने पितृयज्ञ करके वृत्रासुर संग्राम में मारे गये देवताओं को पुनः प्राप्त किया । पितृयज्ञ से यजमान उन्हीं मृत एवं पुनः प्राप्त देवों को तृप्त करता है । वह अपने पितरों को प्रशस्यतम लोकों की प्राप्ति कराता है । पित्र्येष्टि को संपादित करते समय जो प्राणिजात जिस किसी भी कारण से मर जाता है वह पित्र्येष्टि से पुनः प्रवृद्ध हो जाता है, आदि<sup>2</sup> । साकमेध और उसके अङ्ग पित्र्येष्टि के सम्बन्ध में आने वाले उक्त समस्त उत्तेजा प्रकट करते हैं कि शत्रुवध, पापक्षय, विजयश्री, पितरतृप्ति, मर्त्यलोक में ही पितरों की प्रत्यक्षा उपलब्धि, प्रजाप्रवृद्धि और मृत्यु पर अधिकार, साकमेध से मिलने वाले फल हैं । किन्तु उक्त फलों का अधिकारी यथार्थ में वही बन सकता है जो पहले 'कालजयी'

1. वही, 2/5/3/1

2. वही, 2/6/1/3.



बन गया है । 'संवत्सरज्वरोध' और 'संवत्सरजय' काल की इकाई होने से उक्त कालजयी के कालजय स्म धर्म को प्रकट करने वाले बन सकते हैं । प्रकृत में साकमेध या अद्गी अश्वमेध के यजमान में उक्त धर्म (कालजय स्म वैशिष्ट्य) साकमेध के देवताओं को चातुर्मास्यों के आलम्भन से ही आ रहा है । अतः इन्हें संवत्सर स्म कहा जाना सर्वथा प्रसङ्गानुगत है ।

ब्राह्मण के कथान हैं कि साकमेध से क्रासुर को जीतने वाले देवताओं की ओ 'श्री' थी वह सुखा स्म होने से 'शुनः' कहलायी ।<sup>1</sup> वैश्वदेव आदि से जीते गये संवत्सर का जो रस था वह सारभूत और सुखाहेतु होने से 'सीर' कहलाया<sup>2</sup> । 'शुनासीरीय' करने वाला यजमान इन दोनों को धारण करता है । ब्राह्मण के उक्त कथानों में देवश्री को शुनः और संवत्सर रस को सीर बताया गया है और प्रतिपादित किया गया है कि शुनासीरीय का यजमान इन दोनों को प्राप्त करता है । अश्वमेध में शुनासीरीय के देवताओं के लिये चातुर्मास्यों को आलम्भन करने का विधान है<sup>4</sup> । अतः ये चातुर्मास्य अश्वमेध के यजमान को भी 'सार' प्राप्त कराने के हेतु से प्रकृत में सुलभता से संवत्सरस्म कहे जा सकते हैं ।

वैश्वदेव आदि के अतिरिक्त स्वयं प्रकृतयाग चातुर्मास्य के विषय में शतपथ का कहना है: 'अक्षप्य ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भावति।

- 
1. 'या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधेरीजानानां विजिग्यानाम् तत्कुनम् ।' वही, 2/6/3/2 .
  2. 'अथा यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तत्सीरम् ।' वही ।
  3. 'तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुस्ते । तस्माच्छुनासीर्येण यजते ।' वही ।
  4. बा. स. 24/19 .

संवत्सरं हि जयति । तेनास्याक्षाय्यं भवति<sup>1</sup> । 'इस ब्राह्मण वाक्य पर भाष्य करते हुए सायणा ने विचार प्रकट किये हैं कि संवत्सर को जीत लेने पर तद् व्यतिरिक्त काल का अभाव होने से चातुर्मास्ययाजी सार्व-  
कालिक हो जाता है । अतः उस का सुकृत अक्षाय्य होता है<sup>2</sup> । उक्त ब्राह्मण वाक्य और इस पर हरिस्वामी के भाष्य से स्पष्ट है कि चातुर्मास्य का प्रधान फल काल पर विजय प्राप्त कर लेना है । कालजयस्म फल को देने वाले उक्त चातुर्मास्ययज्ञ का प्रतिनिधित्व करने के कारण ही अश्वमेध के चातुर्मास्यपशु 'चातुर्मास्य' हैं और निश्चित ही इसीलिये 'साक्षात्-संवत्सर' भी ।

ब्राह्मण अश्वमेध के यजमान को उस सम्पूर्ण फल की उपलब्धि कराना चाहता है जो एक चातुर्मास्ययाजी को मिलता है । वैश्वदेव आदि के फलों के स्म में ब्राह्मण ने उस सम्पूर्ण फल को बहुत्व की विवक्षा में उपस्थापित किया, जिस में उस की समग्रता के दर्शन होते तो है, किन्तु पर्याप्त प्रयास के अनन्तर । किन्तु प्रकृत भाग 'चातुर्मास्य' के नाम के साथ ब्राह्मण उसी सम्पूर्ण फल को एकत्व की विवक्षा में 'संवत्सरजय' 'अक्षाय्य-सुकृत' के स्म में उपस्थापित करता है । अश्वमेध के 'चातुर्मास्य' निश्चित ही चातुर्मास्ययज्ञ के उस फलैकत्व का मूर्त स्म है । संभावतः इसी लिये ब्राह्मण उन्हें 'साक्षात्संवत्सर' कह रहा है ।

चातुर्मास्यों को साक्षात् संवत्सर कहने, या संवत्सर को अवस्था करने वाला कहने में एक हेतु यह भी रहा हो सकता है कि 'संवत्सरजय'

1. श. ब्रा. 2/6/3/1 .

2. 'तेन संवत्सरजयेन तदतिरिक्तस्य कालस्याभावात् अस्य सार्वकालि-

कस्य चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतमक्षाय्यं भवतीत्यर्थः ।।'

सा०भा० पृ० 570 .

अश्वमेध के फलों में से एक प्रधान फल है<sup>1</sup>। अश्वमेध के इस फल विशेष को सदृशफलदायिनी अन्याय विधियाँ एवं यज्ञों आदि से पुष्ट करने के उद्योग में भी ब्राह्मण चातुर्मास्याँ को संवत्सर को अवस्था करने वाले या साक्षात्संवत्सर रूप कह रहा हो सकता है।

- 
1. 'परमेण वा एष स्तोमेन जित्वा चतुष्टोमेन कृतेनायानाम्  
उत्तरे ह्येकविंशे प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठति । एकविंशात्प्रतिष्ठाया  
उत्तरमहर्षतूनन्वारोहति ऋतवी वै पृष्ठानि । ऋतवः संवत्सरः ।  
ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रतिष्ठति ।' श. ब्र. 13/3/2/ ।

## V

### एकादशिनी पशु

अश्वमेध के यूपों में पशुओं का आलभान किये जाने के प्रसङ्ग में ब्राह्मण के विधान आते हैं 'सप्तदशैव पशून् मध्यमे यूप आलभेत ।' 'षोडश षोडश इतरेषु <sup>2</sup>' इन के अनुसार 'अग्निष्ठ' संज्ञक मध्य के यूप में 'सत्रह' और शेष यूपों में 'सोलह' पशुओं का आलभान लेना चाहिये । ब्राह्मण उद्धृत वाक्यों में जिस 'पशुआलभान' का विधान कर रहा है वह अश्वमेध के 'एकविंश अह' संज्ञक मध्यम दिन या द्वितीय सुत्या दिवस में होने वाला 'पशु-आलभान' है जिस में 609 पशु प्रयोग में लाये जाते हैं <sup>3</sup> । कात्यायन पंद्रह 'पर्यङ्गय' और दो 'आग्नेय एकादशिनी' पशुओं को इस दिन के मध्यम यूप के 'सत्रह' पशु <sup>4</sup> एवं पंद्रह-पंद्रह 'रोहितादि' और एक-एक 'एकादशिनी' पशुओं को शेष बीस यूपों के 'सोलह' पशु मानते हैं । शतपथ के भाष्यकार हरिस्वामी का त्यायन से असहमति प्रकट करते हुए तीन 'अश्वादि' बारह 'रोहितादि' और दो 'आग्नेय एकादशिनियों' को मध्यम यूप के 'सत्रह' पशु मानते हैं <sup>6</sup> । वे शेष बीस यूपों के 'सोलह' पशुओं के सन्दर्भ में

1. श. भा. 13/2/2/13, 13/5/1/14

2. वही ।

3. 'षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमे हनि ।

अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च ॥' उद्धृत, उ० भा० ०  
म भा. , 24/40 ।

4. का. श्रौ. सू. 20/4/24; 20/6/4 ।

5. वही, 20/4/24 पर कर्क भाष्य; 20/6/5 ।

6. 'तस्मादेवमवगच्छामः । त्रयं अश्वादयो द्वादश रोहितादयो द्वौ  
वाग्नेयोदित्येते सप्तदश मध्यमे यूपे ।' हरि. भा. 13/2/2/13 .

कात्यायन के मत से सहमत है<sup>1</sup>। अतः ब्राह्मण के उक्त दोनों कथनों, कात्यायन, हरिस्वामी एवं इसी प्रकार के विचार प्रकट करने वाले और भी अन्य विद्वानों<sup>2</sup> के मत से यह तथ्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि अश्वमेध के 'एकविंश अह 'या' द्वितीय सुत्यादिवस' में होने वाले पशु-आलभान में 'बाईस' एकादशिनी नामक पशुओं का आलभान होता है। क्योंकि अश्वमेध की द्वितीय सुत्या में इनका आलभान होता है, अतः एकादशिनी के अतिरिक्त, प्रयोग की दृष्टि से, इन का एक अन्य अभिधान 'सवनीय पशु'<sup>3</sup> भी है।

शतपथ का कथन है 'द्वे त्वेव स्ते एकादशिन्यां आलभेता'<sup>4</sup>। इस कथन के अनुसार अश्वमेध में दो एकादशिनियों का आलभान करना चाहिये। एकादशिनी का अभिधानार्थ ग्यारह है। शतपथ के अनुसार अग्नि, सरस्वती, सोम, पूषन्, बृहस्पति, वैश्वदेव, इन्द्र, मरुत्, इन्द्राग्नि, सवितृ और वसुष्म के निमित्त यूपों में क्रमशः आलभान किये जाने वाले विशिष्ट गुण-धर्म युक्त ग्यारह निश्चित पशु एकादशिनी है<sup>5</sup>। अतः दो एकादशिनी का अर्थ 'बाईस विशिष्ट पशु' हुआ।

कात्यायन को शतपथ का उक्त विधान यथावत् स्वीकार्य है<sup>6</sup>। कात्यायन श्रौत सूत्र के भाष्यकार कर्कचार्य<sup>7</sup> और उन के सम्प्रदाय का भी यही विधान स्वीकार्य है<sup>8</sup>। उन का प्रतिपादन है कि अश्वमेध की 'सुत्याओं' में उक्त ग्यारह पशुओं को ही दो बार ग्रहण करके, बाईस बना कर सवनीयों के स्म में व्यवहृत करना चाहिये<sup>9</sup>।

1. 'षोडश षोडशेति तु यथाऽक्तमेवेति ।' वही ।

2. उबट, महीधर ।

3. श. ब्रा. 13/5/1/3; 13/5/3/11; का. श्रौ. सू. 20/4/23 ।

4. श. ब्रा. 13/5/1/3

5. वही 3/9/1 .

6. का. श्रौ. सू. 20/4/23 .

7. क. भा. 20/4/23 .

8. सं. सा. 20/4/23 .

9. देखें का. श्रौ. सू. 20/4/25 पर कर्क भाष्य और सिद्धाप्तसार टीका।

हरिस्वामी को उक्त ग्यारह पशुओं को 'एकादशिनी पशु' मानने में संभवतः कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ये वे ही ग्यारह पशु हैं जिन का वाजसनेयी संहिता में अश्वमेध के 'प्रथम एकादशिनी वर्ग' के रूप में उल्लेख हुआ है। उनको इन्हें दुगुने कर के अश्वमेध की 'प्रथम सुत्या' में सवनीय पशुओं के रूप में प्रयुक्त करने के सन्दर्भ में भी कोई आपत्ति नहीं रहानी चाहिये थी, क्योंकि ये 'अग्निष्टोम' के 'पश्वैकादशिनी' एवं 'सवनीयपशु' रह चुके हैं<sup>1</sup> और अश्वमेध की प्रथम सुत्या में अग्निष्टोम की विधियाँ ही प्रयोग में आ रही होती हैं<sup>2</sup> किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया<sup>3</sup> हरिस्वामी इन्हें 'एकविंशजह' या 'द्वितीय सुत्या' में सवनीय पशुओं के रूप में प्रयुक्त होने वाले 'एकादशिनी' मानने के पक्ष में नहीं हैं<sup>4</sup> और उनका ऐसा मानना उचित ही है क्योंकि संहिता ने इस सुत्या-विशेष में सवनीय बनने वाले 'दो एकादशिनी वर्गों' का विधान स्वयम् कर रखा है।

संहिता के अनुसार अश्वमेध की द्वितीय सुत्या के सवनीय एकादशिनियों के दो वर्ग अपने अधिष्ठातृ देवों के साथ इस प्रकार हैं -

कृष्णाग्नीव एक पशु (संभवतः ह्यग) अग्नि देवता का, एक मेष्ठी सरस्वती की, एक पिङ्गलवर्ण का पशु सोम देवता का, एक कृष्णावर्ण पशु पूषा देवता का, एक शितिपृष्ठ पशु बृहस्पति देवता का, एक विचित्रवर्ण का पशु वैश्वदेवता का, एक रक्तवर्ण पशु इन्द्र देवता का, एक कर्बुरवर्ण का पशु मस्तुदेवता का, एकदृढाङ्ग पशु इन्द्राग्नि का, नीचे के क्षेत्र में श्वेतवर्ण एक पशु सवितृ देवता का, एक पैर से सपेद, अन्यत्र, कृष्णावर्ण एवं वेगवान् एक पशु वसुष्ठा देवता का। उक्त ग्यारह पशुओं का समुदाय अश्वमेध का प्रथम एकादशिनी है।<sup>5</sup>

1. (क) श. भा. 3/9/1/6-21 । (ग) का. श्रौ०सू० 8/25 .

2. वही, 13/5/1/1, 2 ।

3. देखें हरि०भा० 13/5/1/3 .

4. देखें हरि०भा० 13/5/1/15 एवं 13/2/2/13 .

5. वा. सं. 29/58 .

एक रक्त तिलक वृषभा अनीकवत् अग्नि का, अर्धाभाग में श्वेत-वर्ण दाँ पशु सवितु देव के, चाँदी जैसी नाभि वाले दाँ पशु पूषन् देवता के, पिशाङ्गवर्ण निः शृङ्ग दाँ पशु वैश्वदेव के, कर्बुरवर्ण का एक पशु मस्तु देवता का, एक कृष्णवज्र (मही० और उबट के अनुसार कृष्णवर्ण मेष) अग्निदेव का, एक मेषी सरस्वती की, एक वेगवान् पशु वसुष्ठा देव का । उक्त ग्यारह पशुओं का समुदाय अश्वमेध का द्वितीय एकादशिनी है ।

हरिस्वामी की संहिता में वर्णित ये दाँ एकादशिनी वर्ग ही अश्वमेध के 'द्वे एकादशिनी पशु' और द्वितीयसुत्या के 'बाईस सवनीय पशु' के रूप में स्वीकार्य है<sup>3</sup> । उक्त दाँनों कण्डिकाओं को संजाये रखने वाले वाजसनेयी संहिता के उन्तीसवें अध्याय का शतपथ द्वारा अश्वमेध के निमित्त विधान किये जाने के कारण<sup>4</sup>, महीधर द्वारा इस अध्याय

1. वही, 29/59 .

2. उक्त बाईस सवनीयों के प्रसङ्ग में संहिता में केवल तीन जाति वाचक संज्ञायें प्रयुक्त हुई हैं- वज्र, मेषी और अनड्वान । ये सभी पशु इन्हीं तीन जातियों के हैं कि किसी अन्य जाति के भी, यह तथ्य संहिता और ब्रह्मण से स्पष्ट नहीं हो पाता । किन्तु वपाहोम के प्रसङ्ग में आये 'कागास्त्रिमेषाः परवभिधानाद्यथातिङ्गम् । (20/7/19) कात्यायन-सूत्र से स्पष्ट है कि ये सभी पशु भिन्न-भिन्न गुणों के, केवल इन्हीं तीन जातियों के हैं । कुछ विद्वानों ने उक्त सूत्र के बाद में आने वाले दाँ सूत्रों (20/7/20, 21) की इस रूप में व्याख्या की है उद्धृतसूत्र पशुओं की जाति के सन्दर्भ में कात्यायन का एक विकल्प ऐसा लगता है (देखें, एक जी. रानाडे, कात्यायन श्रौतसूत्र, पूना, 1978) । किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है (देखें कर्क भाष्य 20/7/20, 21) ।

3. देखें, हरि० भा० 13/2/2/13; 13/2/5/2; 13/5/1/15 ।

4. श. ब्रा. 13/5/1/17 .

को आश्वमेधिक कहे जाने के कारण<sup>1</sup> और उबट द्वारा 'आग्नेय कृष्णाग्नीव  
आदि को सीधे अश्वमेध से सम्बद्ध बताया जाने के कारण<sup>2</sup> संहिता में  
निर्दिष्ट उक्त बर्हस पशुओं को ही 'अश्वमेध के एकादशिनी पशु' और  
उस की 'द्वितीय सुत्या' के सवनीयपशु मानना उचित है, शतपथ में  
'अग्निष्टोम' के प्रसङ्ग में विहित 'पश्वेकादशिनी के दुगुने को नहीं';  
जैसा कि आचार्य कर्क<sup>3</sup> कर्कभाष्य के आधार पर कात्यायन और कर्क  
सम्प्रदाय के आचार्यों ने माना है ।

### प्रतीकात्मकता

शतपथ की आध्यायिका है: 'प्रजाओं को उत्पन्न करके  
प्रजापति ने अपने को रिक्त हुआ सा अनुभव किया । जिन प्रजाओं को  
उसने उत्पन्न किया था वे उत्पत्ति के बाद उस से विमुक्त हो गईं;  
वे प्रजापति की कामनाओं और सुख की साधन नहीं बनीं । बहुप्रज  
व्यक्ति अपनी ब्रह्म संतति द्वारा अर्जित धन से अन्नादिमान् और श्री-  
मान् होता है किन्तु प्रजापति अपनी प्रजाओं से ऐसा नहीं बन सका<sup>7</sup> ।  
प्रजापति ने चिन्तन किया कि मैं किस प्रकार अपने को परिपूर्ण करूँ ?  
ये प्रजायें मेरे पास कैसे लौटें ? मैं प्रजाओं से अन्नलाभ और श्रीलाभ  
कैसे करूँ ? प्रजाकाम प्रजापति ने अर्चन किया, श्रम किया । इस के फल-

1. 'आश्वमेधिक' अध्याय । ततो स्य प्रजापति ब्रह्मि । आद्या एकादश  
त्रिष्टुभाः । आग्नीसंज्ञा अश्वस्तुतयोः... वामदेव पुत्रेण बृहदुच्यते...  
दृष्टा । ' म भा. 29/1

2. 'अश्वस्तुतिः । आश्वमेधिकं प्राक् 'आग्नेयः कृष्णाग्नीवः' (29/58, 59)  
इत्येतस्मात् । ' उ० भा० 29/1 .

3. 'अह्नोरेकादशिन्या वालभेत । ' क० भा० 20/4/25 .

4. 'देवों श्रीधर शर्मा वारे, टिप्पणी संख्या ।, पृ० 2919 .

5. सं सार 20/4/25 .

6. श. भा. 3/9/1/1

7. वही, 3/9/1/2

8. वही, 3/9/1/3 .



स्वस्म उसने 'एकादशिनी' को देखा । एकादशिनी से यजन करके उसने अपने को पुनः पूरित कर लिया । प्रजायें उस के अभिमुख हो गई उसकी श्री और अन्न के स्म में स्थित हो गई । एकादशिनी से यजन करके वह पहले से अच्छा हो गया ।<sup>1</sup>

हम देनाते हैं कि ब्राह्मण में आयी उक्त आख्यायिका प्रजापति को सर्वत्र 'प्रजाकाम' बताती है और प्रजाओं की उत्पत्ति करने पर उसे 'रिरिचान' कहती है । सृजन के बाद रिक्तता का आना एक प्राकृतिक सत्य है । जब सृजन सृष्टि की सृष्टि सम्बन्धी कामनाओं को पूरा न करे तब उक्त रिक्तता की मात्रा निश्चित ही कुछ अधिक बढ़ जायेगी । प्रजापति के साथ ऐसा ही हुआ । उत्पन्न की गयी प्रजायें उस के सुख लाभ के लिये नहीं हुई । परिणामतः उस ने एकादशिनियों से यजन कर के अपने को परिपूर्ण किया और प्रजाओं के सम्बन्ध में अपनी कामनाओं की पूर्ति की । इस समस्त प्रक्रिया में जो महत्वपूर्ण बात रही वह यह है कि 'पश्वेकादशिनी' प्रजापति की परिपूर्णता-सृजन से उत्पन्न रिक्तता की पूर्ति- एवं उसकी प्रजा सम्बन्धी कामनाओं की पूर्ति में प्रधान सहायक बने ।

ब्राह्मण के वाक्य है 'तस्मै कं एकादशिन्या यजेत'<sup>2</sup>

'एतस्मै कं एकादशिन्या यजेत'<sup>3</sup> । 'कं' अर्थात् स्वर्ग, सुख, प्रजापति आदि है । प्रथम वाक्य में सायण 'कं' की व्याख्या 'पुरुषम्' करते हैं<sup>4</sup> । अतः प्रथम वाक्य का अर्थ हुआ-प्रजापति के निमित्त एकादशिनी से यजन करे । द्वितीय वाक्य की उपस्थापना में कहा गया है कि एकादशिनियों से यजन करके यजमान प्रजा और पशुओं से पूर्ण होता है । प्रजायें उस की अपनी होकर स्थित रहती हैं । प्रजायें उस की श्री और अन्न

1. वही, 3/9/1/4

2. वही, 3/9/1/5 .

3. वही ।

4. 'कमिति पुरुषम्' सा. भा. , वही ।

बन जाती हैं । वह एकादशिनियों से यजन करके वसुमत्तार हो जाता है । अतः द्वितीय वाक्य का अर्थ हुआ- लौकिक सुख सम्पत्ति के लिये एकादशिनियों से यजन करे ।

उक्त दोनों वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण प्रजापति की पूर्णता और लौकिक श्री सम्पत्ति के निमित्त एकादशिनियों से यजन कराने के पक्ष में संभावित इस लिये है कि उसने इन से यजन करके प्रजापति को परिपूर्ण होता हुआ देखा है । जिस प्रकार रिक्त हुआ भी प्रजापति पुनः परिपूर्ण हो गया उसी प्रकार ब्राह्मण अश्वमेध के यजमान को इन के द्वारा किये जाने वाले यजन से परिपूर्ण होता हुआ देखना चाहता है । उक्त यजन से यजमान को प्रजायें, पशुसम्पत्ति श्री एवं संपन्नता तो मिलेगी ही वह सृष्टि और परिपूर्णता के अधिष्ठातृ देव प्रजापति का अनुसङ्गिक रूप में पूजन भी करेगा जो स्वर्ग प्राप्ति का हेतु है ।

एकादशिनियों को प्रजापति की रिक्तता और कामनाओं की पूर्ति का साधन प्रतिपादित करने के अतिरिक्त ब्राह्मण अश्वमेध के प्रसङ्ग में यजमान के उद्देश्य से एकादशिनियों को स्वर्ग का प्रत्यक्ष साधन भी बताता है । उस का प्रतिपादन है: ' एष वै सम्प्रति स्वर्गं लोकं यदेकादशिनी<sup>2</sup> । 'उसने एकादशिनियों को यजमान की अपनी प्रजा और पशुओं का रूप भी बताया है । उसका कहना है: ' प्रजा वै पशवः एकादशिनी<sup>3</sup> । उस का स्पष्ट प्रतिपादन है कि यजमान केवल प चदशिनी और चातुर्मास्य

1. 'एव हैव प्रजया पशुभिराध्यायते उपैतं प्रजा समावर्तन्ते तिष्ठन्ते स्य

प्रजाश्रिये न्नद्याय स वसीयानेवैष्टुवा भवति । 'श. ब्र. 3/9/1/5 .

2. वही, 13/2/5/2 .

3. वही ।

आदि पशुओं से संवत्सर स्म अश्वमेध को सम्पन्न करके प्रजासंपत्ति और पशुसंपत्ति को प्राप्त नहीं कर पाता । वह स्वर्गप्राप्ति का भी अधिकारी नहीं बन पाता । प्रजासंपत्ति, पशुसंपत्ति एवं स्वर्ग की प्राप्ति यदि उसे अभीष्ट है तो एकादशिनियों से यजन करना अनिवार्य है और यही एकादशिनियों का अपने द्वारा प्रतीकायित किये जाने वाला सम्पूर्ण अर्थ है ।

ब्राह्मण ने 'सारस्वत' 'साम्य' आदि एकादशिनियों के विशेष अभिधान के साथ 'एष एतदाप्यायते' 'एनमुपसमावर्तन्ते' 'अनुकामात्मनः कुस्ते' इन तीन वाक्यांशों को समान स्म में प्रयुक्त कर के उक्त प्रतीकायित संपिण्डार्थ को 'विशेष स्म' में भी उपस्थापित किया है ।<sup>2</sup>

----

-----  
1. (क) 'वि वा एष प्रज्या पशुभिर्ऋध्यते । अप स्वर्ग लोकं राधूनोति ।

यो न्यत्रैकादशीनेभ्यः संवत्सरं तनुते इति । 'वही ।

(७८) देवों हरिस्वामी भाष्य, वही ।

2. श. ब्रा. 3/9/1/7, 8, 10, 11, 13, 15, 17, 19 .

अश्वमेधा के देवतापशु एवं उनका प्रतीक विधान

- एकविंशजह के आरण्यपशु एवं अन्य पशुबर्ग-

## I

### आरण्यपशु

अश्वमेधा के एकविंशजह में 327 + 22 ग्राम्य पशुओं के अतिरिक्त 260 आरण्यपशुओं का भी आलम्भान होता था<sup>1</sup>। ब्राह्मण इन का तैरह पशु प्रति अन्तराल के हिसाब से आलम्भान किये जाने का विधान करता है।<sup>2</sup> इन्कीस यूपों से अन्तराल बीस बनते हैं। अतः इन की 'समग्र संख्या' 'दो सौ साठ ही होती है। आरण्यपशुओं की उक्त संख्या के सन्दर्भ में विद्वानों में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

#### आलम्भान-स्थल

-----

ब्राह्मण ने आरण्यपशुओं के 'आलम्भान स्थल' को 'आकाश' शब्द से अभिहित किया है<sup>3</sup>। कत्यायन इसे 'यूपान्तर' पद से अभिहित करते हैं<sup>4</sup>। कहीं-कहीं इस के लिये 'अवकाश' पद का भी प्रयोग हुआ है<sup>5</sup>। किन्तु उब्वट और महीधर इसे 'अन्तराल' कहने के पक्ष में अधिक हैं<sup>6</sup>। देवयानिक और संक्षिप्त सारकार भी इसे 'अन्तराल' ही कहते हैं<sup>7</sup>। यद्यपि उक्त सभी

-----

1. बा. सं 24/20-40

2. 'त्रयोदश त्रयोदशाण्यानाकाशेष्वलम्भते।' श०बा. 13/5/1/15

3. वही

4. अ०श्र०सू० 20/6/6

5. 'अथा द्वितीये वकाशे।' बा०सं, म०भा० 24/20

6. दे० महीधर भाष्य, उबटभाष्य, बा. सं 24/20-40

7. दे० या०, अ०श्र०सू० 20/6/6; सं० स० वही।

अभिधानों का अभिप्राय एक है- यूप से यूप के बीच की छुली दूरी। किन्तु 'अन्तराल' में अधिक व्यापकता होने के कारण यह एक अतिरिक्त सुविधा हो सकती है कि हम 'आरण्यपशुओं' का 'अन्तरालपशु' के रूप में भी अभिधान कर सकते हैं।

#### आलभान क्रम

शतपथ ब्रह्मण और ऋत्वायन श्रौतसूत्र-दोनों ही से यह तथ्य पूर्ण स्पष्ट है कि प्रत्येक यूपान्तराल में आलभान किये जाने वाले आरण्यपशुओं की संख्या तैरह रहती है।<sup>1</sup> किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि इनके आलभान में क्रम क्या रहता है। आरण्यपशुओं के आलभान क्रम को आचार्य कर्क ने 'ताश्चाकाशात्पत्तिक्रमण'<sup>2</sup> कहकर स्पष्ट किया है- अर्थात् यूपोत्पत्तिक्रम से आरण्यपशुओं का आलभान करना चाहिये। इस सन्दर्भ में कर्क 'अपरे तु दक्षिणात् आरम्भेच्छन्ति'<sup>3</sup> कहकर एक अन्य मत का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार दक्षिण दिशा से आरम्भ करके आरण्यपशुओं का आलभान करना चाहिये। किन्तु विचार करने पर पता चलता है कि आचार्य कर्क 'अपरे' कहकर जिस जिस मत का संकेत कर रहे हैं वह उन के स्वमत से भिन्न नहीं है। क्योंकि 'अश्वमेधास्य छातु एकविंशतिर्यूपः। दक्षिणात्तरभागयोः दशदश। मध्ये एकविंशते परः उद्दाल वृक्षा जा यो यूपः सो ग्निष्ठः'<sup>4</sup> तैत्तिरीय संहिता के इस उल्लेख के अनुसार अश्वमेधा के यूपों को गाढ़ने का क्रम दक्षिण दिशा से आरम्भ होता है- अर्थात् पहला यूपान्तराल दक्षिण दिशा में ही बनता है। अतः ऊपर उद्धृत दोनों मतों का प्रतिपादय एक ही है।

1. श. ब्र. 13/5/1/15; का०श्रौ०सू० 20/6/6

2. क०भा०, वही।

3. वही।

4. तै०स० 26/1.

## विस्तार

आरण्य पशुओं का विस्तार बहुत व्यापक है। इन में 'मशक' से लेकर 'हाथी' तक के विशालकाय पशु सम्मिलित हैं। 'शश' जैसे डरपोक पशु से लेकर<sup>2</sup> 'शेर' एवं 'चित्रक' तक के<sup>3</sup> भाषानक पशु इन में गिनाये गये हैं। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यहाँ आकाशचारी जीव-कपि जल, क्लविडुक, क्लोक्लि तित्तर, वर्तिका, हंस आदि<sup>4</sup>, जलचर जीव-मत्स्य, मण्डूक, शिशुमार आदि<sup>5</sup> और पृथिवी के जीव-मूषक, विडाल, महिष, गौमृग आदि<sup>6</sup> सभी को 'आरण्यपशु' के रूप में स्मरण किया हुआ है। केवल इतना ही नहीं है विभिन्न कीट, पतङ्ग, भृङ्ग सर्पादि भी अश्वमेधा के सम्माननीय आरण्य देवतापशु हैं।

## पशु अभिधान

आरण्यपशुओं के अन्तर्गत ऐसे अनेक जीव वर्णित हैं जिन्हें 'पशु' कहना कुछ अटपटा लगता है जैसे मशक, कपोत आदि। किन्तु यज्ञ की भाषा में ये पशु ही हैं। यज्ञ विज्ञान कुछ विशिष्ट स्थितियों में मनुष्य को भी पशुपशु रूप में व्यवहृत करता है।<sup>7</sup> अतः पशु का सामान्य लक्षण- 'शृङ्ग और पुच्छ से युक्त जीव' या 'लोमवत् लाङ्गूलवान् जीव' यज्ञ की दृष्टि से अभीष्ट नहीं है। नव्यनैधायिकों का वह मत जिस में पशुत्व को 'जाति' न मानकर 'धर्म' माना गया है, यज्ञ के सन्दर्भ में अधिक सही

1. (क) 'क्षुष्मे मशकान्' वा. सं. 24/29

(ग) 'प्रजापतये पुरुषान्हस्तिन आलभाते' वही 24/30

2. 'शशस्ते निक्षतै' वही 24/38

3. वही 24/33

4. वही 24/20, 22 आदि

5. वही 24/21 आदि

6. वही 24/26, 30, 32 आदि

7. 'अथा यदस्मिन्मेध्यानम्पुरुषानालभातैतस्मादेव पुरुषमेधाः'

श. ब्रा. 13/6/2/2.

लगता है। यहाँ पशु को 'सर्वमविशेषेण पश्यतीति पशुः' रूप में देखाना अधिक उचित है। अश्वमेधा के आरण्यपशुओं में जो जीव गिनाये गये हैं वे वस्तुओं के विशेष रूप से-विशेषज्ञान पूर्वक नहीं देखाते। अतः वे सभी पशु कहे जा सकते हैं। यज्ञशास्त्र में जहाँ मनुष्य को 'पशु' रूप में व्यवहृत किया गया है वहाँ उस मनुष्य विशेष का चयन द्रष्टव्य है; वह ऐसे गुणों वाला ही चुना गया है जो 'अविशेषदर्शी' के अत्यन्त निकट है।

### अधिष्ठातृदेव

आरण्यपशुओं का जिन देवताओं या देवयुग्मों के निमित्त आलम्भन होता है उन का विस्तार द्युलोक के द्युदेव से लेकर समुद्र के देवता तक है। आरण्यपशुओं का जिन के निमित्त आलम्भन विहित उन में दृश्यमान जगत् के विशिष्ट पदार्थ भी सम्मिलित हैं जो यहाँ देव रूप में वर्णित हैं।<sup>2</sup> राक्षसों के लिये भी आरण्यपशुओं का आलम्भन यहाँ होता है।<sup>3</sup> आरण्यपशुओं के अधिष्ठातृदेवों की सूची में 'ही' और 'मन्यु' जैसे देव भी हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से विशुद्ध मनोभावमात्र हैं।<sup>4</sup>

आरण्यपशुओं के सन्दर्भ में ब्राह्मण या श्रौतसूत्र की कोई ऐसी निश्चित 'व्यवस्था' नहीं है कि ये 'तीन' की संख्या में भी देवविशेष

1. देवों, वा. सं 25/5; श. भा. , 13/3/6/5; का०श्री. सू. 20/8/16

2. 'समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती'। वा. सं 24/30

3. 'रवा कृष्णः कर्णा गर्दभस्तक्षुस्ते रक्षासाम्' वही 24/40

4. (क) 'हिये शल्पक' वही 24/35

(ग) 'शार्दूलो वृक पृदाकुस्ते मन्यवे' वही 24/33 .

या देवयुग्म के निमित्त आलभान किये जायें, जैसी कि ग्राम्यपशुओं के सन्दर्भ में थी। वहीं तीन आरण्यपशुओं का एक देव के निमित्त आलभान किये जाने का विधान है तो वहीं मात्र एक आरण्यपशु ही देवविशेष के लिये आलभान किया जाता है।

### संक्षेप

स्वभाव, आकार, व्यवहार आदि की 'विविधता' एवं अपने 'जंगलीपन' के कारण आरण्यपशुओं को देवताओं के निमित्त आलभान किये जाने के प्रसङ्ग में यूपान्तरालों में स्थित कर पाना एक दुष्कर कार्य था। इसे सुकर बनाने के उद्देश्य से मानव श्रौतसूत्र कुछ व्यवस्थाएँ देता है। उस का कहना है 'नाडीषु प्लविमशकान् करण्डेषु सर्पान् प जरेषु मृग व्याघ्रसिंहान् कुम्भीषु मकरमत्स्यमण्डूकान् जालेषु पक्षिणः कारासु हस्तिना नाँषु चौदकानि पथार्धमितरानिति'।<sup>2</sup> मानव श्रौतसूत्र की उक्त व्यवस्थाओं का पतिपाद्य यह है कि जो आरण्यपशु जिस रूप में अन्तराल में 'कुछ समय के लिये' स्थित किया जा सकता है उसे उसी रूप में रखा जाय। महीधार आदि श्रौतसूत्र की उक्त व्यवस्थाओं से सहमत है।

### अभिज्ञान

आरण्यपशुओं की जो जाति एवं नाम यजुर्वेद के मन्त्रों में उल्लिखित हैं वे निश्चित ही अमचलित एवं क्लिष्ट हैं। उन से सही अभिप्राय निकाल पाना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। इस सन्दर्भ में महीधार का कहना है कि इन के विषय में 'अंदाज' से व्यवहार करना

1. आरण्यपशुओं में प्रधान 150 पशु ऐसे हैं जो तीन-तीन की संख्या में अपने अधिष्ठातृदेव के लिये आलभान किये जाते हैं और अंतिम 110 पशु ऐसे हैं जिन का एक-एक की संख्या में अपने अधिष्ठातृ देवों के निमित्त आलभान होता है।

2. उद्धृत, म० भा०, वा० सं० 24/20.



उचित नहीं है। आरण्यपशुओं के निगम निधाण्टु, निरुक्त, व्याकरण उणादिवृत्ति और अभिधानग्रन्थों के सहयोग से अच्छी तरह जान-समझ कर ही प्रयुक्त करना चाहिये। यदि उक्त ग्रन्थों के सहयोग से भी ये नाम स्पष्ट न हो सकें तो जो व्याक्त जंगलों में रहते हैं (आटविक) उन के सहयोग से इन्हें भली भाँति पहचान कर प्रयुक्त करना चाहिये।<sup>2</sup> आरण्यपशुओं की पहचान के प्रसङ्ग में देवयाजिक चार्य के विचार भी इसी प्रकार के हैं।<sup>3</sup>

आरण्यपशुओं का 'दशिनी' वर्ग एवं उन की प्रतीकात्मकता

वाजसनेयी संहिता जिन 260 पशुओं की अश्वमेधा के आरण्यपशुओं के रूप में विहित करती है, शतपथ ब्राह्मण एक व्याख्यायिका के सहयोग से उन में से कुछ के विषय में विशेष कथान करता है। यहाँ कहा गया है कि प्रजापति ने 'विराट् देवता' की रचना की। अपने स्वरूप में आने के बाद वह मध्य अश्व में प्रविष्ट हो गयी।<sup>4</sup> 'दशिनियों' के माध्यम से प्रजापति ने उस की तलाश की और उसे प्राप्त करके 'दशिनियों' से दृढ़ कर दिया।<sup>5</sup> इस स्थान पर हरिस्वामी की व्याख्या है कि प्रजापति ने विराट् की अभिमानिनी दश अवयवों वाली देवता की रचना की।<sup>6</sup> दशावयवा विराट्-अभिमानिनी उक्त देवता 'वनदेवी'।

1. 4 भा. वही

2. 'आटविकैः पशु लक्षाणि याः'। वही

3. 'पैषा पशुवाचकानां पदानामर्थः न ज्ञायन्ते ते निगमनिरुक्त व्याकरणेणादिवृत्त्यभिग्रन्थेभ्यो वितोक्त्यावगन्तव्याः।'।

देव० टी०, का० भा० सू० 20/6/5.

4. 'प्रजापतिर्विराजमसृजत। सा स्मात्सृष्टा पराच्येत। सा श्व मध्यमं प्रविशत्।' श० भा० 13/2/5/3.

5. 'ता दशिभिर्नुप्रायुक्त। तामाप्नोत्। तामाप्त्वा दशिभिर्वा-  
रुधा।' वही

6. 'प्रजापतिर्विराजं विराडभिमानिनी दशावयवा देवता' असृजत।'  
हरि० भा०, वही।

या 'सृष्टिदेवी' हो सकती है। उस के दश अवयव पूर्व आदि दश दिशाएँ हो सकते हैं। देवी होते हुए भी उसका मध्य अश्व में प्रवेश करना अपने मूलकारण प्रजापति का सर्वातिशायित्व स्वीकार करना है। क्योंकि अश्व प्राजापत्य है। प्रजापति का 'दशिनियो' से उसे तलाश करना और उन्हीं से उसे दृढ़ करना अपने अस्तित्वकाल में इस देवी का 'विराट् धर्म' से युक्त रहना है। क्योंकि जिन्हें दशिनी कहा जा रहा है वे 'आरण्य' के पशु हैं<sup>2</sup>। इन की गति केवल पृथिवी पर या मात्र एक दिशा में ही निश्चित नहीं है, ये पशु ऐसे हैं जो पृथिवी के अतिरिक्त आकाश की उच्च-उच्चतर उंचाइयों एवं सागर की अनन्त गहराइयों में भी स्वच्छन्द संचरण करते हैं। ये आकृति, जाति, स्वभाव, आचार और व्यवहार आदि में वैविध्य के भाण्डार हैं। 'विराट् धर्म' का प्रतिनिधित्व करने के लिये इन से अच्छा कोई दूसरा माध्यम हो नहीं सकता। इसीलिये ब्राह्मण का कहना है कि यजमान अश्वमेध में 'दशिनियो' के आलम्बन से अपने लिये 'विराट्' को निश्चित करता है।<sup>3</sup> हरिस्वामी के अनुसार विशाढभिमानिनी देवता 'दशावयवा' है। प्रजापति ने 'दशिनियो' से इस की जाँच कर उन्हीं से इसे दृढ़ किया है।<sup>4</sup> इस के एक-एक अवयव का सम्बन्ध 'दशिनी' के एक-एक पशु से रहा हो सकता है। संभवतः इसीलिये ब्राह्मण इन पशुओं के मूलक आरण्य होने के बाद भी इन का 'दशिनी' ऐसा अभिधान कर रहा है।<sup>6</sup>

1. 'प्राजापत्यो अश्वः' श० ब्रा० 13/1/11; 13/1/2/2

2. 'षष्ट्यधिकं शतद्वयं कपि जलादयः पृषतान्ता आरण्याः पशवः।' म० भा०, वा. सं 24/40

3. 'यद्दशिन आलभाते । विराजमेव तैर्यजमानो वसुधे ।' श० ब्रा० 13/2/5/1

4. 'दशावयवा देवता असृजत ।' हरि० भा०, वही ।

5. वही

6. अन्तिम एक ही दश आरण्यपशुओं के 'दशिनी' कहे जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा हो सकता है कि आरण्यपशुओं में मात्र ये एक ही दश पशु ही ऐसे हैं जिन का एक-एक की संख्या में आलम्बन होता है। शेष सभी आरण्यपशु तीन-तीन की संख्या में ही देवताओं के निमित्त आलम्बन किये जाते हैं।

आरण्यपशुओं के 'दशिनी वगै' के सम्बन्ध में आचार्य हरिस्वामी का कहना है: 'दशसंख्या प्रमाणं येषां ते दशिनः पशवः ।' उन्होंने 'प्रजापतये च वायवे च गोमृगः ( वा. सं. 24/30 ) इत्येवमादयः ' कहकर आरण्यपशुओं में अन्तिम 110 पशुओं को 'दशिनीपशु' माना है और वाजसनेयिसंहिता के चौबीसवें अध्याय की 30-40 तक की ग्यारह कण्डिकाओं में दश-दश पशुओं के विहित होने की बात कही है ।<sup>3</sup> हरिस्वामी का पर्यालोचन पूरी तरह सही है । ब्राह्मण का 'एकदश दशत आलभते'<sup>4</sup> वाच्य उनके मत के समर्थन में उद्धृत किया जा सकता है। इगलिङ्ग ने भी हरिस्वामी के मत के साथ अपनी सहमति प्रकट की है । किन्तु वे दशि-नियों के ही सम्बन्ध में आये 'शतमालभते । शतायुर्वै पुरुषः । शतैन्द्रियः । आयुरेवेन्द्रिय वीर्यमात्मन्धात्ते'<sup>6</sup> ब्राह्मणवाच्य में प्रयुक्त हुए 'शतम्' शब्द के आधार पर उक्त 110 दशिनीपशुओं में से प्रथम 'सौ' के किसी प्रतीकात्मक उद्देश्य से ब्राह्मण द्वारा पृष्ठांक किये जाने का संकेत करते हैं ।<sup>7</sup> यद्यपि आचार्य हरिस्वामी ने 'दशिनां तच्च शतं यदपि दशात्तरं, तथापि शतमुत्वा दशार्थां शतमित्याह'<sup>8</sup> कह कर इस प्रकार की किसी भी संभावना के लिये अवकाश न रहने देने का (पुरजोर) प्रयास किया है

1. हरिः भा०, वही

2. वही

3. 'प्रजापतये च वायवे च इत्यत आरभ्य एकदशैवेताः कण्डिकाः

( वा. सं. 24/30-40 ) यासु दश दश पशवः । 'वही, श. भा. 13/2/5/4

4. श. भा. 13/2/5/4

5. देवी, इगलिङ्ग शतपथ ब्राह्मण, भाग 5, पृ० 311, पा. ठि सं ।

6. श. भा. 13/2/5/3

7. देवी, इगलिङ्ग, श० भा०, भा० 5, पृ० 311, पा. ठि सं ।

8. हरिः भा०, श० भा० 13/2/5/3

किन्तु उन के इस प्रयास के बाद भी इन 'सौ' के किसी प्रतीकात्मक उद्देश्य से यहाँ आने की संभावना तो बनी ही रहती है। लगता यह है कि 'शतमातृभारै' इत्यादि वाक्य में 'शतम्' शब्द 'पूर्णासंख्या' का प्रतीक है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'शतायुर्व पुरुषः' में 'शतायुः' शब्द 'पूर्ण आयु' का प्रतीक है। ब्रह्मण स्पष्ट कर देना चाहता है कि मनुष्य की आयु पूर्ण है। अतः उस की शक्तियाँ भी अपरिमित हैं। उस की दृष्टि में आयु 'शक्ति' है। जब आयु पूर्ण है, संख्या में अपूर्ण नहीं है तो मनुष्य की शक्तियाँ को पूर्ण-अपरिमित होना ही चाहिये। अश्वमेधा में यजमान अपने को अपरिमित शक्तियों से सम्पन्न करने के लिये- 'विराट्' को अपने लिये निश्चित करने के लिये 'सौ' का अर्थात् पूर्ण दशिनियों का एक सौ दश दशिनियों का आलभान करता है। अतः कहा जा सकता है कि उद्धृत ब्रह्मणवाक्य में 'शतम्' पद अपने 'पूर्णा संख्या' का प्रतीकात्मक अर्थ के माध्यम से समस्त एक सौ दश दशिनीपशुओं का बोधक है। हरिस्वामी ने इस के भाव को ठीक समझा है। इसे दशिनियों के प्रथम 'एक सौ' पशुओं का वाचक मानना<sup>2</sup> उचित नहीं है।

उपर उद्धृत हुए वाक्य में 'एक सौ दश' दशिनियों को 'शतम्' कह कर दशिनी पशुओं के आलभान से अश्वमेधा के यजमान को प्राप्त होने वाली 'शक्तिपूर्णा' या 'विराट् धर्म' का संकेत करके ब्रह्मण 'विधि' की दृष्टि से इन की समग्र संख्या का अभिधान करने के लिये 'एकादश दशत आलभारै'<sup>3</sup> कहता है। उक्त वाक्य में दशिनी पशुओं की समग्र संख्या का कथन तो है ही, 'एकदश' संख्या का प्रतीकात्मक उपयोग भी है। ग्यारह का प्रतीक यहाँ इन्द्रियों और आत्मा के सह-सम्बन्ध में अपरिमित शक्तियों या 'विराट् धर्म' के निहित रहने के रहस्य को बताने

1. 'आयुरेवैन्द्रिय वीर्यम् ।' श. ब्रा. वही

2. दे०, इगलिङ्ग, श० ब्रा०, भाग-5, पृ० 311, पा० 18 स ।

3. श. ब्रा. 13/2/5/4

ब्राह्मण अश्वमेधा में यजमान के द्वारा ग्राम्यपशुओं का आलभान करने से इस लोक (मनुष्यलोक) को<sup>1</sup> और आरण्यपशुओं का आलभान करने से उ. लोक (देवलोक) को<sup>2</sup> जीतने का उल्लेख करता है। ब्राह्मण के उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि अश्वमेधा में आरण्यपशुओं का आलभान दिव्यलोकों की प्राप्ति के निमित्त है। दिव्यलोक अनेक हैं एवं अपने विशेष सुखों के कारण सुशोभित हैं। अतः वही अर्थात् वे 'विराट्' हैं। आरण्यपशुओं के अन्तरालों में आलभान से अश्वमेधा का यजमान इस 'विराट्' को अपने लिये निश्चित करता है।

## II

### अश्वमेधा की प्रथम और तृतीय सुत्याओं के सबनीयपशु

---

अश्वमेधा की प्रथम सुत्या के सबनीय पशुओं के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कथन है: 'एकविंशतिः सबनीयाः पशवः सर्वमाग्नेयाः। तेषां समानं कर्म।'<sup>3</sup> ब्राह्मण के इस कथन के अनुसार प्रथमसुत्या के सबनीयपशु इक्कीस होने चाहिये। ब्राह्मण तृतीयसुत्या के सबनीयों के सन्दर्भ में भी वही वाक्य को दोहराता है।<sup>4</sup> अतः तृतीयसुत्या के सबनीयपशु भी इक्कीस ही होने चाहिये।

---

1. 'ग्राम्यैरेव पशुभिर्गम्य लोकमवास्महे।' श. ब्रा. 13/2/4/1

2. 'आरण्यैरमुम्।' वही

3. श0ब्रा013/5/1/3

4. वही 13/5/3/11.

किन्तु सावधानी के साथ देधाने पर पता चलता है कि इन दोनों ही स्थलों पर ब्रह्मण का उक्त विधान विकल्प के रूप में आया है। प्रथम स्थल पर इक्कीस सबनीयों के विधान का प्रतिवाद कर ब्रह्मण 'द्वैतत्वेव एते एकादशिन्यावातभौत'<sup>1</sup> वाक्य से दो एकादशिनी पशुओं (बाईस) को सबनीय बनाने का निर्णय करता है और द्वितीय स्थल पर इक्कीस सबनीयों के विधान का प्रतिवाद कर 'चतुर्विंशति त्वेवैतान् गव्यानालभौत द्वादशभ्यः देवताभ्यः'<sup>2</sup> वाक्य से चौबीस गायों को तृतीयसुत्या के सबनीय पशु बनाने का विधान करता है। ब्रह्मण के उक्त दोनों स्थलों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि उसे अश्वमेधा की प्रथम और तृतीय सुत्याओं में इक्कीस सबनीयपशु रखना अभीष्ट नहीं है।

#### प्रथम सुत्या के बाईस सबनीय

---

प्रथम सुत्या में इक्कीस सबनीय न रखने में ब्रह्मण ने जो हेतु उपस्थित किया है वह यह है कि मानव सुलभ कामनाओं की प्राप्ति 'एकादशिनियों' के आलम्भन से ही संभाव है<sup>3</sup>। उसने इसी तथ्य को एक अन्य स्थान पर 'एष वै सम्प्राप्तिं स्वर्गा लोकं यदेकादशिनी'<sup>4</sup> प्रजा वै पशवः एकादशिनी ।<sup>5</sup> जैसे कथनों से और भी अधिक स्पष्ट किया है। किन्तु एकादशिनियों को स्वर्ग जैसी, प्रजा जैसी कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला कष्टों समय ब्रह्मण की दृष्टि निश्चित ही 'अग्निष्टोम' यज्ञ

---

1. वही 13/5/1/3

2. वही 13/5/3/11

3. 'य एवैकादशिषु कामः तस्य कामस्याप्त्यै ।' श. ब्रा. 13/5/1/3 .

4. वही, 13/2/5/2

5. वही ।

के एकादशिनी पशुओं पर रही होगी<sup>1</sup>, क्योंकि अश्वमेधा की प्रथम सुत्या के दिन अग्निष्टोम की विधियाँ ही सम्पन्न हो रही होती हैं<sup>2</sup>। अग्निष्टोम के एकादशिनी पशु ग्यारह हैं<sup>3</sup>। इत्कीस सबनीयों के विकल्प का प्रतिवाद कर ब्राह्मण संभावतः 'द्दे त्वेव एते एकादशिनीया आलभोत'<sup>4</sup> कथान से उन्हें ही द्विगुणित प्रभाव के लिये आज के बाईस सबनीय पशुओं के रूप में विहित करना चाहता है। वह इत्कीस सबनीय न रूँ कर एकादशिनी के दुगुने उक्त बाईस सबनीयों को रूँ करने के पक्ष में संभावतः इसलिये भी है क्योंकि इस स्थिति में ही अग्निष्टयूप का द्रष्टृत्व सुरक्षित है<sup>5</sup>। अग्निष्टोम के सबनीय 'एकादशिनी' पशु जो<sup>6</sup>। अश्वमेधा की प्रथम सुत्या के सबनीय दुगुने हुए वे एकादशिनी पशु ही हैं<sup>7</sup>। संभावतः इसीलिये ब्राह्मण इन के पुराने नाम 'एकादशिनी' के माध्यम से ही बाईस सबनीयों के रूप में इन का कथान भी कर रहा है। इन्हें अश्वमेधा की द्वितीयसुत्या के लिये नियत दो एकादशिनी (वा. सं. 29/58, 59) न बताकर अग्निष्टोम में प्रयुक्त एकादशिनी (वा. सं. 29/58) का दुगुना बताने के उद्देश्य से ही कात्यायन ने 'एकादशिनीया सबनीयाः पशवो भवन्ति'<sup>8</sup> सूत्र को बनाया होगा।

1. श. ब्रा. 3/9/1/6-21.

2. वही, 13/5/1/1, 2.

3. का. श्रौ. सू. 8/8/25.

4. श. ब्रा. 13/5/1/3.

5. 'सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूप आलभोत'। वही, 13/2/2/13; 13/5/1/15

6. का. श्रौ. सू. 8/8/25.

7. श. ब्रा. 13/5/1/3.

8. का. श्रौ. सू. 20/4/23.

इस संभावना की पुष्टि श्री धार शर्मा वारे की उस व्याख्यात्मक टिप्पणी से होती है जिस में वे कहते हैं: 'छात्रपरिपठिता प्रथमै-  
वेकादशिनी (वा. सं. 29/58) दिवरावृत्ता भावतीति कर्कसम्प्रदायकारौ।'  
अश्वमेधा की दृष्टि से ब्रह्मण के 'द्वे त्वेव एते एकादशिन्यौ आलभौत'  
वाक्य के द्वारा विहित होने वाले बार्हस पशु मात्र 'प्रथमसुत्या के  
सवनीय' हैं क्योंकि ब्रह्मण की पूर्वापर वाक्यसंरचना यही प्रकट करती  
है कि उसे यहाँ प्रथमसुत्या के सवनीयों की संख्या निश्चित करना अधिक  
अभीष्ट है, अश्वमेधा के एकादशिनी प्रतिपादित करना नहीं<sup>2</sup>।

### आग्नेय अभिधान

ब्रह्मण के उपर्युद्धृत वाक्य (13/5/1/3) की समीक्षा से  
यह भी स्पष्ट होता है कि अग्निष्टोम के एकादशियों के दुगुने इन बार्हस  
पशुओं का सवनीय के अतिरिक्त यदि कोई अन्य समुचित अभिधान  
संभाव है तो वह 'आग्नेय' है, क्योंकि इन पशुओं में आग्नेय कृष्णाग्नीव  
ही प्रधान है। इन्हीं दो की प्रधानता कत्यायन के 'मध्यम आग्नेयों'<sup>3</sup>  
सूत्र से तो प्रकट होती ही है। एक अन्य स्थल पर स्वयं शतपथ और  
कत्यायन के उस विधान से भी पुष्ट होती है जहाँ कहा गया है कि  
आवश्यकता पड़ने पर (यूप के एक रहने पर) पश्वेकादशिनी में से आग्नेय  
का तो यूप में आलभान किया जाता है और शेषों को क्रमशः उस की  
पूँछ के पीछे बाँधा दिया जाता है। 'अग्नि' समस्त देवताओं का प्रधान

1. श. भा. गंगाविष्णु श्रीकृष्णादास, लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई,  
पृ. 2919 पा. ठि सं. 1.

2. देखें श. भा. 13/5/1/1-3.

3. का. अ. सू. 20/4/24.

4. (क) 'यद्यु पश्वेकादशिनी स्यात् आग्नेयमेव यूप आलभोरन् । अर्धतरान्  
यथापूर्वम् ।' श. भा. 3/9/1/23.

(ख) देखें, वही, 3/9/1/24, 25, 26, 27.

5. का. अ. सू. 8/8/26, 27, 28.



और प्रत्यक्षा सहायक है । वह प्रजापति का रूप भी है । अतः उक्त बार्हस पशुओं को सबनीय के साधा-साधा यदि आग्नेय भी कहा जाता है तो वह सर्वथा उचित है ।

अतः स्पष्ट हुआ कि 'द्वे त्वेव एते एकादशिन्यौ आलभेत' ब्राह्मणावाक्य से अश्वमेधा की प्रथमसुत्या में आलभान के लिये विहित बार्हस पशु अश्वमेधा की अपनी दृष्टि से मात्र उस दिन के सबनीय पशु है, जिन का आवश्यकता पड़ने पर 'आग्नेय' ऐसा अभिधान भी किया जा सकता है । ये अश्वमेधा के अपने लिये सहिता (29/58, 59) द्वारा नियत दो एकादशिनी पशु नहीं हैं जैसा कि हरिस्वामी ने माना है ।

तृतीय सुत्या के चौबीस सबनीय

अश्वमेधा की तृतीयसुत्या के सन्दर्भ में आये 'एकविंशति सबनीयाः पशवः । सर्व आग्नेयाः । तेषां समानं कर्म ।' इत्यादि वाक्य पर विचार करने से पता चलता है कि यहाँ भी ब्राह्मण का उपयोग सबनीयों की संख्या निर्धारित करने में अधिक है । वह तृतीय सुत्या में 'इक्कीस' सबनीय न रखाकर 'चौबीस' सबनीय रखाने के पक्ष में है, संभावतः इसलिए कि आज के दिन को वह 'उत्तम अह' मानता है । आज

1. (क) ता. भा. 25/15/4 .

(ख) ऐ. भा. 1/1/1 .

2. श. भा. 3/9/1/6 .

3. 'द्वे त्वेवैते । सहिते अश्वमेधिके । किं? ङितपरिपठिते एकादशिन्यौ-  
'आग्नेय कृष्णाग्नीव' 'आग्नेय नीकवते रोहिता विजरनद्बान्' इत्येते  
(बा. ६ 29/58, 59) आलभेत । 'हरि भा. 13/5/1/3 .

4. श. भा. 13/5/3/11 .

5. 'चतुर्विंशति त्वेवैतान् गव्यानालभेत द्वादशभ्य देवताभ्यः ।' वही ।

6. 'सर्वस्तौम तिरात्र उत्तममह भवति । सर्व वै सर्वस्तौम तिरात्र । सर्वमश्वमेधाः  
'सर्वस्याप्त्ये सर्वस्यावसृष्ट्यै ।' वही 13/3/2/4; 13/3/3/6; 13/5/3/9

के दिन की 'उत्तमता' प्रथम और द्वितीय सुत्यादिवसों की तुलना में अपनी किसी उत्कृष्टता में ही सभावित है। प्रथम और द्वितीय इन दोनों ही सुत्याओं में सवनीय पशु बारहस-बारहस रहते हैं। ब्राह्मण तृतीय सुत्या के सवनीयों को बारहस न रखा कर चौबीस रखाने का विधान इसलिये कर रहा है कि तृतीय सुत्यादिवस को 'उत्तम वह' सिद्धा कर सके।

उक्त चौबीस सवनीय या आग्नेय पशुओं को अश्वमेधा के अपने 'एकदशिनी पशु' नहीं माना जा सकता। प्रथम तो इसलिये कि उसके एकदशियाँ को सहिता ही ने निर्धारित कर रखा है।<sup>1</sup> द्वितीय इसलिये कि उक्त पशु ग्यारह देवताओं के निमित्त आतमान किये गये न होकर बारह देवताओं के निमित्त आतमान किये जाते हैं।<sup>2</sup> तृतीय इसलिये कि ये सभी 'गायें'<sup>3</sup> हैं, जब कि एकदशिनियों में एक भी 'गाय' नहीं है।

तृतीय सुत्या में ब्राह्मण चौबीस गायों को ही सवनीय बनाने का जो प्रतिपादन कर रहा है उस के मूल में उस का वही अभिप्राय निहित है जिसे उसने 'नैते सर्वे पशवः यदजा वयश्च आरण्याश्च। एते वै सर्वे पशवः यद्गव्या इति'<sup>4</sup> कहकर व्यक्त किया है। उस का स्वमत है कि प्रथम और द्वितीय सुत्याओं में सवनीय बनने वाले अज और अवि जैसे ग्राम्यपशु एवं समस्त आरण्यपशु 'पूर्ण पशु' नहीं हैं। ये अपूर्ण हैं। जो पूर्ण हैं वे गायें हैं। संभावतः इसीलिये वह अश्वमेधा के 'उत्तम वह' में पूर्ण पशु चौबीस गायों को सवनीय बनाने के पक्ष में है।

1. वा. सं. 29/58, 59.

2. 'वतुर्विंशतिं त्वैकैतान् गव्यानालभेत द्वादशभ्यां देवताभ्यः।'

श. ब्रा. 13/5/3/11.

3. वही.

4. वही, 13/3/2/3.

ब्राह्मण उक्त चौबीस गायों को वैश्वदेव के पशु कहता है ।  
वह अश्व को वैश्वदेव का स्म कहता है<sup>2</sup> और अश्व के सर्वत्व के लिये आज  
के दिन विचित्रवर्ण की गायों को सक्तीय बनाने का विधान करता  
है<sup>3</sup> उस का अभिप्राय पूर्ण स्पष्ट है । वह 'वैश्वदेव' (या प्रजापति अग्नि  
आदि बारह देव) स्म अश्व में सर्वत्व का आधान करने के लिये विचित्र-  
वर्ण की चौबीस गायों को सक्तीय बनाने के पक्ष में है, जो स्वयम् में  
'पूर्ण' होने के साथ-साथ अपने रङ्गों की विचित्रता से भी सर्वत्व का  
आपन करने में समर्थ हैं ।

अतः उक्त चौबीस गायों को न तो अश्वमेधा में अग्निष्टोम सम्बन्धी विधियों में प्रयुक्त दो एकादशिनी माना जा सकता है, जैसा कि आचार्य कर्क मानते हैं,<sup>4</sup> क्योंकि वे ग्यारह देवताओं के निमित्त आलम्बन किये जाते हैं<sup>5</sup> जिन में 'वैश्वदेव' मात्र एक है,<sup>6</sup> और न अश्वमेधा के अपने दो एकादशिनी<sup>7</sup> (वा. सं. 29/58, 59) ही, जैसा कि भाष्यकार हरिस्वामी ने माना है, क्योंकि वे विभिन्न जाति के पशु हैं जिन में

1. 'सर्वानेन पशूनालभाते । वैश्वदेवा भावन्ति ।' वही ।
2. 'वैश्वदेवा वा अश्वः ।' वही ।
3. (क) 'अश्वस्यैव सर्वत्वाय । बहुस्मा भावन्ति । तस्माद्बहुस्मा पशवः ।  
नानास्मा भावन्ति । तस्मान्नानास्मा पशवः ।' वही ।

(छा) 'उत्तमै गावो बहुस्या ।' क. अ. स. 20/4/26 .

4. 'अह्नरैकदशिन्यावालभोत ।' क. भा. 20/4/25 .  
 5. वा. सं 29/58 .  
 6. 'शिल्पो वैश्वदेव ।' वही ।  
 7. 'चतुर्विंशति त्वेवैतान् गव्यानालभोत । एतान् ' 'आग्नेय कृष्णग्रीवः ' ' इत्यादीन् द्वाविंशति च द्वौ च प्राजापत्यौ इति श्रुत्यन्तरात् ।  
 गव्यान् गोमपात्मकानालभोत द्वादशभ्यो देवताभ्यः ।'  
 हरि. भा. 13/5/3/11 .

से एक भी 'गाय' नहीं है । ये निश्चित ही तृतीयसुत्या के सवनीय हैं जिन का अश्वमेधा के 'दो' एकादशिनी पशुवर्ग,<sup>1</sup> से दूर तक का सम्बन्ध नहीं है । इन के आलभान का उद्देश्य अश्वमेधा के उत्तमअह में अश्व की सर्वत्व से सम्पन्न कर देना है ।<sup>2</sup>

### सवनीय पशु और महामुनि कात्यायन

महामुनि कात्यायन ने अश्वमेधा की तीन सुत्याओं के सवनीय पशुओं को स्पष्ट करने के प्रसङ्ग में चार सूत्र व्यय किये । 'एकादशिन्वा' सवनीया पशवो भावन्ति<sup>3</sup> सूत्र बना कर उन्होंने प्रथमसुत्या के सवनीयों को स्पष्ट किया । इन के सन्दर्भ में उन के अभिप्राय को हम ऊपर देखा चुके हैं ।<sup>4</sup> 'मध्यम आग्नेयो'<sup>5</sup> सूत्र लिखा कर उन्होंने प्रथम सुत्या के इन सवनीयों को यूपों में आलभान किये जाने सम्बन्धी व्यवस्था को स्पष्ट किया । इसके ऊपर कुछ विस्तार से आगे विचार किया जायेगा<sup>6</sup> । कात्यायन ने द्वितीय और तृतीय सुत्याओं के सवनीयों के सन्दर्भ में मुख्य रूप से 'उत्तरयोश्च'<sup>7</sup> सूत्र बनाया । इस के ऊपर आचार्य कर्क का भाष्य है :<sup>8</sup> 'अह्ना' एकादशिन्वावलभौत । 'भाष्य से स्पष्ट है कि कर्क अश्वमेधा की द्वितीय और तृतीय सुत्याओं में 'दो' एकादशिनी' पशुओं को सवनीयों के रूप में आलभान किये जाने के पक्ष में

1. वा. सं. 29/58,59 .

2. 'अश्वस्येव सर्वत्वाय ।' श. भा. 13/3/2/3 .

3. का. श्रौ. सू. 20/4/23 .

4. देखा ऊपर पृ.

5. का. श्रौ. सू. 20/4/24 .

6. देखा पृ. सं.

7. का. श्रौ. सू. 20/4/25

8. कर्क भाष्य, वही ।

हैं । श्रीयुत श्रीधर शर्मा वारे का पर्यालोचन है कि-कर्क को उक्त दोनों सुत्याओं में जिन दो एकादशिनी पशुओं का आलभान अभिमत है वे मूलतः 'अग्निष्टोम' के एकादशिनी पशु हैं<sup>1</sup>। वारे का उक्त पर्यालोचन पूरी तरह सही कहा जा सकता है, क्योंकि अश्वमेधा की प्रथमसुत्या के सन्दर्भ में आये 'द्वे त्वेव एते एकादशिन्यौ आलभते ।' इस शतपथ वाक्य में और इसी को आधार बना कर लिखा गया 'एकादशिन्यौ सक्नीयाः पशवो भावन्ति ।' इस कात्यायन सूत्र में जिन दो एकादशिनियों का उल्लेख है वे यथार्थ में अग्निष्टोम में प्रयुक्त एकादशिनी पशु ही हैं । किन्तु स्वयम् में न तो आचार्य कर्क सही हैं और न वारे का यह पर्यालोचन ही कि-मुनि कात्यायन को भी अश्वमेधा की द्वितीय और तृतीय सुत्याओं में उक्त दो एकादशिनी पशुओं का ही सक्नीयों के रूप में आलभान अभीष्ट है<sup>2</sup>। कात्यायन श्रौतसूत्र में 'एकादशिन्यौ सक्नीयाः पशवो भावन्ति ।' और 'उत्तरयोश्च सूत्रों के मध्य में 'मध्यम आग्नेयौ ।' सूत्र की स्थाति है, जिस में अश्वमेधा की प्रथमसुत्या के बाद सक्नीयों के आलभान की प्रक्रिया का उल्लेख है । अतः 'उत्तरयोश्च' सूत्र में आने वाले 'च' से 'एकादशिन्यौ सक्नीयाः पशवो भावन्ति' सूत्र के 'एकादशिन्यौ' पद का ग्रहण नहीं किया जा सकता, जैसा कि आचार्य कर्क कर रहे हैं<sup>3</sup>। 'च' पद सामान्य स्थाति में उस 'प्रक्रिया विशेष' का बोधक है जो प्रथम सुत्या में सक्नीय पशुओं

1. 'जितपरिपठिता प्रथमैवैकादशिनी द्विरावृत्ता भावतीति कर्क-सम्प्रदायकारौ ।' श. अ. पृ. 2919

2. 'कर्कसम्प्रदायकारौ' पद के 'सम्प्रदायकार' अंश से वारे ने कहना चाहा है कि केवल कर्क को ही नहीं कात्यायनसम्प्रदाय के जन्मदाता मुनि कात्यायन को भी द्वितीय और तृतीय सुत्याओं में 'दो एकादशिनी' का आलभान अभीष्ट है । लेकिन वारे के उक्त पर्यालोचन से सहमत नहीं है ।

3. 'अह्नोरेकादशिन्यावालभते ।' क०भा० 020/4/25 .

के आलभन में व्यवहृत होती है<sup>1</sup>। दिवतीयसुत्या के सन्दर्भ में वह उस 'संख्याविशेष' का भी बोधाक हो सकता है<sup>2</sup> जो प्रथमसुत्या दिवस के सबनीयों की थी। उसे उक्त दो एकादशिनी का बोधाक मानना, या कात्यायन को दिवतीय सुत्या में अग्निष्टोम के दो एकादशिनी पशु ही अभीष्ट मानना, कदापि उचित नहीं है।

जहाँ तक 'उत्तरयोश्च' सूत्र के 'च' पद से तृतीयसुत्या के सबनीयों के विधान का प्रश्न है, सूत्र पर लिखे गये भाष्य से यही प्रकट होता है कि इस सुत्यादिवस के सबनीय 'दो एकादशिनी होने चाहिये'; वे भी वे दो एकादशिनी जो अग्निष्टोम की विधियाँ सम्पादित करते समय प्रथमसुत्या के दिन के दो एकादशिनी थीं। संक्षिप्तसार टीका के 'उत्तरयोरपि दिवतीय तृतीययोर्होद्वे द्वे एकादशिन्यौ सबनीयाः पशवौ भावन्ति'।<sup>3</sup> कथान को देखा लेने के बाद कर्क और उन के अनुयायियों के उक्त प्रतिपादन में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। यही कारण है कि कर्क आदि से अभिभूत होकर प्रा० इंगलिंग ने अपनी स्वतंत्र पाद टिप्पणियों में यहाँ तक कह दिया कि कात्यायन अश्वमेधा की तीनों सुत्याओं में 'दो एकादशिनी' पशुओं को सबनीय बनाने का प्रतिपादन करते हैं।<sup>4</sup> इंगलिंग का अपना मत भी यही था कि अश्वमेधा की तीनों सुत्याओं छियासठ एकादशिनी पशुओं को सबनीय के रूप में प्रयुक्त किया जाना

1. देहों, शां. प्र. ,पृ० ४

2. बार्हस की संख्या ।

3. सं. सार. 20/4/25 .

4. 'कात्यायन (20/4/25) मैक्स द टू सेट्स आफ इलेविन विक्रिटिप्स द स्त फार आल थी डेज ।' शां. भा. भाग 5, पृ० 310 .

चाहिये<sup>1</sup>। लगता ऐसा है कि आचार्य कर्क के प्रस्तुत संक्षिप्त भाष्य में निश्चित ही कोई जादुई प्रभाव विद्यमान था; यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी भी इस से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे। हरिस्वामी का तृतीयसुत्या के सबनीयों को 'चौबीस' मानते हुए भी उन में दो एकादशिनियों की स्थिति को स्वीकार करना<sup>2</sup> उनके ऊपर कर्क के आशिक प्रभाव का ही परिचायक है।

किन्तु अश्वमेधा की तृतीयसुत्या के सबनीयों के निमित्त ही बनाये गये<sup>3</sup> उत्तमे गावो बहुस्मा<sup>3</sup> 'इस कात्यायनसूत्र से और 'एते वै सर्व पशवः यद्गव्या इति। गव्यानुत्तमे हन्नालभते<sup>4</sup> 'इस ब्राह्मणवाक्य के स्पष्ट है कि इस सुत्या के पशु मात्र 'गायें' हैं। शतपथ के 'चतुर्विंशति त्वैवैतान् गव्यानालभते द्वादशभ्यां देवताभ्यः<sup>5</sup>। 'वाक्य से यह भी स्पष्ट है कि इन की संख्या 'चौबीस' है। दो एकादशिनी मात्र

1. (क) 'दू कम्प्लीट सेटस् आफ इलेविन सच विकटिमस् आर, अर हाउऐवर, रिक्वायर्ड आन ईच आफ द थ्री डेज। 'वही, पृ० 377.

(ग) 'दो ज दू सेटस् आफ इलेविन विकटिमस्, टाइड दू द ट्वनटी वन स्टेकस् (दू बीग टाइड दू द रेटल स्टेक) आर दू कौस्टीट्यूट द रेगुलर 'सबनीया' पशवः 'आफ द प्रेसिंगडेज आफ द अश्वमेधा। ' वही, प० 310.

2. (क) 'एकादशिन्यां द्वे द्वाौ च प्राजापत्या गावो चेत्यभिप्रायः।

हरि. भा. 13/3/2/3

(ग) 'एतान् 'आग्नेयः कृष्णाग्नीवः 'इत्यादीन् द्वाविंशति च' 'द्वौ च प्राजापत्या' 'इति श्रुत्यन्तरात् गव्यान् गोमयात्मकान् आलभते द्वादशभ्यां देवताभ्यः। 'हरि. भा. 13/5/3/11.

3. क. श्री. सू. 20/4/26.

4. श. ब्रा. 13/3/2/3.

5. वही, 13/5/3/11.

'गाँ पशु' नहीं है। इन में अब<sup>1</sup> और मेषी<sup>2</sup> जैसे पशु भी सम्मिलित हैं। अतः तृतीयसुत्या के सवनीय न तो कर्क सम्मत दो एकादशिनी हो सकते हैं और हरिस्वामी द्वारा निर्देशित दो एकादशिनी ही। ऐसी स्थिति में 'उत्तरयोश्च' के 'च' पद से दो एकादशिनियों का किसी भी रूप में विधान मानना, या द्वितीय सुत्या के साथ-साथ तृतीयसुत्या में भी बाईस सवनीय मानना, या कात्यायन के नाम पर अश्वमेधा की तीनों सुत्याओं में छियासठ सवनीय प्रयुक्त करने का निष्कर्ष निकालना, कदापि उचित नहीं है।

कात्यायन ने कहीं भी तृतीयसुत्या के सवनीयों का नामतः 'द्वे एकादशिनी' नहीं कहा। उन्होंने 'उत्तमे गावो बहुस्माः' सूत्र बनाकर इस दिन के सवनीयों के सन्दर्भ में पथार्थ को छिपाकर भी नहीं रखा। ऐसी स्थिति में 'उत्तरयोश्च' और 'उत्तमे गावो बहुस्माः' सूत्रों में आने वाले परस्पर विरोध<sup>3</sup> की उपेक्षा कर के भी आचार्य कर्क ने तृतीय सुत्या

1. (क) 'वैश्वदेवो पिशङ्गो तूपरो'। 'वा. स. 29/59'.

(ग) 'तूपरत्वेन कागः'। 'क०भा० 20/7/19'.

2. 'सारस्वती मेषी'। 'वा. स. 29/58'.

3. 'उत्तरयोश्च' सूत्र पर आचार्य कर्क के भाष्य को उचित मान लेने पर 'उत्तरयोश्च' और 'उत्तमे गावो बहुस्माः' इन दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध प्रथम तो इसलिये आता है कि पहले सूत्र के 'च' पद से गृहीत होने वाले दो एकादशिनी पशु 'गाँ पशु' नहीं हैं, जब कि दूसरे सूत्र से विहित सवनीय मात्र 'गाँ पशु' ही हैं। द्वितीय इसलिये कि 'उत्तमे गावो बहुस्माः' से विहित सवनीयों की संख्या (चाबीस) और देवता (वैश्वदेव या बारहदेव) ब्राह्मण ने नियत कर रखे हैं (13/5/3/11; 13/3/2/3), जो कि दो एकादशिनी पशुओं की ब्राह्मण द्वारा नियत की गई बाईस की संख्या (3/9/1/6-21) और ग्यारह देवताओं (3/9/1/6-21) से पूरी तरह भिन्न हैं।



में दो एकादशिनियों को सवनीय बनाने का जो अभिप्राय निकाला उस के कारण पर विचार कर लेना भी अनावश्यक नहीं होगा। कर्क ने 'उत्तरयोश्च' सूत्र पर 'अह्नोरेकादशीन्यावालभेत' भाष्य लिखते समय इस सूत्र को बनाये जाने का प्रेरणास्त्रोत शतपथ में दो स्थानों पर आने वाले 'एकविंशतिः सवनीयाः पशवः। सर्व आग्नेयाः। तेषां समान कर्म'। 'वाक्य के 'तेषां समान कर्म' अंश को माना होगा, जिस में कहा गया है कि सवनीय या आग्नेय पशुओं सम्बन्धी कर्म-यूपालभान आदि समान (तीनों सुत्याओं में एक सा) रहता है। किन्तु कात्यायन ने उक्त समस्त वाक्य का प्रतिवाद करने वाले 'द्वे त्वेव एते एकादशिन्यौ जालभेत'<sup>2</sup>। 'और 'चतुर्विंशति त्वेवैतान् गव्यानालभेत द्वादशभ्यो देवताभ्यः'<sup>3</sup>। 'वाक्यों को मान्यता देकर भी उक्त वाक्य की 'विकल्प प्रकृति' को नहीं समझा होगा और 'तेषां समान कर्म' से प्रभावित होकर द्वितीय और तृतीय सुत्याओं में दो एकादशेनी का विधान करने के लिये 'उत्तरयोश्च' सूत्र को बनाया होगा, ऐसा मानना युक्ति युक्त नहीं है।

लगता ऐसा है कि कात्यायन ने 'एकादशिन्यौ सवनीयाः पशवो ऋश्चि भावत्ति'<sup>4</sup> सूत्र में प्रथमसुत्या के सवनीयों का उल्लेख कर 'मध्यम आग्नेयो'<sup>5</sup> सूत्र के माध्यम से उन के जालभान प्रकार को स्पष्ट किया। उन्होंने द्वितीय और तृतीय सुत्या के सवनीयों को पूर्ण स्पष्ट समझ कर 'उत्तरयोश्च'<sup>6</sup> सूत्र की रचना की। इस सूत्र की रचना में कात्यायन का

1. श. ब. 13/5/1/3; 13/5/3/11.

2. श. ब. 13/5/1/3.

3. वही, 13/5/3/11.

4. क. श्री. सू. 20/4/23.

5. वही, 20/4/24.

वही, 20/4/25

6. (क) वा. सं. 29/58, 59

(ग) श. ब. 13/3/2/3, 13/5/3/11.

अभिप्राय मात्र इतना था कि वे द्वितीय और तृतीय सुत्याओं में सवनीय पशु रङ्ग जाने का 'शब्दतः विधान' कर देना चाहते थे । संहिता और ब्राह्मण में इन दोनों सुत्याओं के सवनीय पशु अपनी जाति, वर्ग और संख्या की दृष्टि से पर्याप्त स्पष्ट थी । अतः मुनि कात्यायन ने सूत्र में इन के विषय में विशेष उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा । तृतीय सुत्या में ब्राह्मण एकादशिनियों को सवनीय न बनाकर किन्हीं विशिष्ट गायों को सवनीय बनाने के पक्ष में था । एक स्थान पर तो ब्राह्मण ने इनकी विशिष्टता को स्पष्ट कर दिया था<sup>1</sup>, किन्तु ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थान पर वह अस्पष्ट रह गई थी<sup>2</sup> । अतः कात्यायन ने इस सन्दर्भ में अपना विधान देते हुए 'उत्तमे गावो बहुस्या'<sup>3</sup> सूत्र को बनाया । उन्हें पता था कि ब्राह्मण ने इस सुत्या को सवनीय गायों की संख्या नियत कर रक्की है<sup>4</sup> । अतः उन्होंने सूत्र में इस संख्या का अभिधान करना आवश्यक नहीं समझा ।

ब्राह्मण में तृतीय सुत्या की सवनीय गायों की संख्या स्पष्ट होते हुए भी कर्क आदि आचार्यों को इन को इक्कीस यूपों में आतृगन करने में समस्या का सामना करना पड़ा होगा । अतः उन्होंने 'उत्तर-यौश्व' सूत्र की व्याख्या ही इस रूप में उपस्थात कर दी कि वे चौबीस न रह कर बाईस हो गई । किन्तु हरिस्वामी ने इन की संख्या चौबीस ही मानी है<sup>5</sup> । अतः जिस रूप में उन्हें इन को दो एकादशिनी और दो

1. श. ब्रा. 13/3/2/3 .

2. वही , 13/5/3/11 .

3. का. अ. सू. 20/4/26 .

4. श. ब्रा. 13/5/3/11 .

5. हरि०भा०, वही .

प्राजापत्य मान कर आलभान स्वीकृत हो उसी रूप में इन्हें विशुद्धा सवनीय गोपशु मान कर आलभान कर लेना चाहिये<sup>1</sup>।

### III

#### अग्नीषोमीयपशु

अश्वमेधा में यूपस्थापन के दिन इक्कीस पशुओं का यूपों में आलभान करने का विधान है। कात्यायन का कहना है: 'प्रतियूपमग्नीषोमीया'<sup>2</sup>। यहाँ आचार्य कर्क की व्याख्या है कि ये पशु दक्षिण के यूप से आरम्भ करके आलभान किये जाने चाहिये<sup>3</sup>। कात्यायन श्रौतसूत्र और उसके भाष्यकार आदि में से किसी ने यह स्पष्ट निर्देश नहीं दिया है कि ये इक्कीस पशु किस जाति के होने चाहिये। किन्तु कात्यायन श्रौतसूत्र के 'आगोस्त्रमेषा'-----

1. 'परवेकादशिनी' के प्रसङ्ग में ब्राह्मण का विधान है: 'यद्यु परवेकादशिनीस्यात्-आग्नेयमेव यूप आलभोरन् । अथैतरान् यथापूर्वम्' (3/9/1/23)। इसी प्रसङ्ग में कात्यायन का विधान है: 'एकयूपे परवेकादशिन्यामाग्नेयं नियुज्य तस्मिंस्तस्मिन्नितरानुदीचः' (8/8/26)। ब्राह्मण और कात्यायन के उक्त विधान से स्पष्ट है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य सवनीयों को 'आग्नेयसवनीय' के पीछे आलभान किया जा सकता है। प्रस्तुत चौबीस सवनीय गायों में से बाईस को ब्राह्मण और सूत्रकार की व्यवस्थाओं के अनुसार अश्वमेधा के इक्कीस यूपों में आलभान करने में किसी का विप्रतिपत्ति नहीं है। परेशानी अवशिष्ट दो गायों के आलभान में है। यदि इन दो का उपर्युद्धृत विधान के आलोक में 'अग्निष्ठयूप' में ही आलभान कर दिया जाय तो संभावतः किसी भी प्रकार का अनौचित्य नहीं आयेगा।
2. का. श्रौ. सू० 20/4/21.
3. 'तै च दक्षिणा यूपदारभ्य ववन सामध्यात् । 'ऋभा०, वही.

पशुभिधानाद्य धा लिङ्गम्' सूत्र के आधार पर संभावना की जा सकती है कि ये पशु बकरा, बैल और भेड़ इन तीन जातियों में से किसी एक या तीनों के होते होंगे ।

श्रौतसूत्र में यह उल्लेख नहीं है कि यूपों में इक्कीस पशुओं का अग्नि और सोम इन दो देवों के निमित्त आलभान किस प्रकार से किया जाता था । इसे समझने के लिये अग्नीषोमीय पशुओं की प्रतीकात्मकता पर जाना होगा । ब्राह्मण का वाक्य है: एवमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नं संस्कृत्य तस्मिन्नेकविंशतिमग्नीषोमीयापशूनालभते<sup>2</sup> । 'इस वाक्य में 'एवमेतं प्रजापतिं यज्ञं कृत्स्नं संस्कृत्य' अंश प्रजापति के उस भावितिक 'यज्ञपुरुषस्म' को स्पष्ट करने के लिये है जो उस ने अवस्था की वेदी और उस पर इक्कीस यूपों की विशेष स्थिति से प्राप्त किया है<sup>3</sup> । वाक्य के आगे के अंश में ब्राह्मण प्रजापति के इस निष्प्राण 'यज्ञपुरुष' के आकार में यूपों में अग्नि और सोम के निमित्त इक्कीस पशुओं का आलभान कराकर प्राणों का संचार कराना चाहता है ताकि यजमान प्राणवान् यज्ञपुरुष का प्रजापत्य पशुओं के माध्यम से यजन कर संकल्पसिद्ध हो सके । अतः कहा जा सकता है कि उक्त इक्कीस 'अग्नीषोमीय पशु' यज्ञपुरुष स्म प्रजापति के प्राणों का प्रतीक हैं । 'अग्नि' और 'सोम' की 'प्राणों' को प्रतीकायित कर सकने की सामर्थ्य हम उमर देखा चुके हैं<sup>4</sup> ।

1. क. अ. सू. 20/7/19 .

2. श. ब्रा. 13/4/4/11.

3. देवी, शां०प्र०, पृ० .

4. वही, पृ० .

## IV

## अनुबन्ध्यापरा

अश्वमेधा की सुत्याओं की विधियों को पूर्ण कर यजमान के द्वारा अवभृथा स्नान कर लिये जाने पर इक्कीस अनुबन्ध्या गायों का आलभान किये जाने का विधान है<sup>1</sup>। उक्त ऋषि गायों के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है कि ये गायें सात-सात की संख्या में मित्रवस्था, वैश्वदेव और बृहस्पति-इन तीन देवों के निमित्त आलभान की जाती हैं<sup>2</sup>। यजमान इन देवों को प्राप्त करने के लिये इन का आलभान करता है<sup>3</sup>।

अनुबन्ध्या गायों के 'इक्कीस' की संख्या में ही आलभान किये जाने के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है कि बारह महीने पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और इन सब का निषायक स्वयम् आदित्य ये सब मिल कर इक्कीस होते हैं<sup>4</sup>। उक्त अनुबन्ध्या गायें इन इक्कीस की अभिसंपत्ति हैं<sup>5</sup>। अर्थात् देश-काल और उसके निषायक आदित्य का प्रतीक ये इक्कीस अनुबन्ध्या गायें हैं। यजमान इन के आलभान से देश-काल रूप संसार की परिधि से ऊपर उठ जाता है।

देवों के निमित्त अनुबन्ध्याओं के आलभान क्रम के प्रसङ्ग में ब्राह्मण का कहना है कि पहले सात गायें मित्र-वस्था के लिये आलभान की जानी चाहिये और बाद में क्रमशः वैश्वदेव और बृहस्पति के लिये<sup>6</sup>। यहाँ मित्रवस्था, वैश्वदेव और बृहस्पति व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान की तीन अवस्थाओं के द्योतक हो सकते हैं।

1. 'एकविंशतिरनुबन्ध्याः'। का. श्रौ. सू. 20/8/23

2. 'मैत्रावस्वतिः वैश्वदेवीः बृहस्पत्याः'। श. ब्रा. 13/5/4/25

3. 'एतासां देवतानामापत्यै'।

4. 'द्वादश मासाः। प चर्तवः। त्रय इमे लोकः। असावादित्य एकविंशः'। श. ब्रा. 13/5/4/26.

5. 'एतामभिसंपदम्'। वही

6 वही 13/5/4/25.

'मित्र-वस्त्रा' का सम्बन्ध नीति और आचार से है<sup>1</sup>। मित्र-वस्त्रा के लिये सात अनुबन्ध्याओं का आलम्भन अश्वमेधा याजी के व्यवहार में प्रयोजन न रहने पर भी सदाचार और प्र नीति के रहने को व्यक्त कर सकता है। 'वैश्वदेव' के निमित्त सात अनुबन्ध्याओं का आलम्भन अश्वमेधा याजी के 'वैश्वस्म हो जाने' को प्रतीकायित कर सकता है। वह इसलिये कि वैश्वदेव के बाद बृहस्पति के निमित्त सात अनुबन्ध्याओं का आलम्भन करने का विधान है<sup>2</sup> और बृहस्पति को 'वैश्वस्म हो जाने' से भी ऊपर की स्थिति-ब्रह्म अपार्त् अस्म बताया गया है<sup>3</sup>।

ब्रह्मण बृहस्पति के लिये सात अनुबन्ध्याओं का आलम्भन सब से अन्त में इस लिये कराना चाहता है कि क्योंकि वह बृहस्पति को ब्रह्म का प्रतीक मान रहा है। वह बृहस्पति को अभिधामुखा से 'ब्रह्म' कहता है। ब्रह्म के सब से अन्त में-- सब के मूल में होने के कारण ही वह उस के प्रतीक बृहस्पति के निमित्त आलम्भन सब से अन्त में कराना चाहता है। ब्रह्म सबसे अन्त में-- सब कुछ के मूल में इसलिये है कि क्योंकि शतपथ का उपसंहार-- बृहदारण्यक उपनिषद् और समस्त उपनिषद् साहित्य ब्रह्म को ही आत्यन्तिक सत्य एवं दृश्यमान प्रपञ्च का मूलकारण प्रतिपादित करता है। अश्वमेधा की विधि या पूर्ण हो चुकी है। यजमान अवभृथा स्नान कर चुका है। अतः अनुबन्ध्याओं से सम्पन्न होने वाले इस यज्ञ में ब्रह्म को प्रतीकायित करते हुए बृहस्पति के निमित्त होने वाला आलम्भन सब से बाद में आना ही चाहिये।

गायें अनुबन्ध्या हैं। अतः ये अपने ब्राह्मण से अब यजमान के कर्मा के पक्षरहित हो जाने को, जिसे उपनिषदें ब्रह्मवेत्ता की परम

1.

2. 'तद्यत् बार्हस्पत्याः अन्त्या भावन्ति।' वही

3. 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः।' वही.

उपलब्धि मानती है<sup>1</sup>, प्रकट करने में पूर्ण सक्षम है। अश्वमेधा ब्रह्म-  
प्राप्ति का भी साधन होता है-इस तथ्य को ब्राह्मण ने अपने 'सर्वान्  
ह वै कामानाप्नोति। सर्वान्विष्टीर्यश्नुते। यो अश्वमेधो न यजते।<sup>2</sup> वाक्य  
में सांकेतिक रूप में कहा था। कुछ विद्वानों को ब्राह्मण का संकेत वहीं  
पर स्पष्ट हो गया था<sup>3</sup>। किन्तु ब्राह्मण इस महत्वपूर्ण तथ्य को सभी  
के लिये पूरी तरह स्पष्ट कर देने के उद्देश्य से अभिधान करता है कि  
ब्रह्मस्य बृहस्पति के निमित्त सात अनुबन्ध्याओं के आलम्बन से अश्वमेधा  
का यजमान अन्त में ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हो जाता है<sup>4</sup>।

## V

### ऋतुपशु

दक्षिणा पूर्वक अश्वमेधा के सम्पन्न हो जाने पर उत्तर संवत्सर  
में इत्तीस ऋतुपशुओं से यजन करने का विधान है। शतपथ ब्राह्मण  
और अत्यायन श्रौतसूत्र-दोनों का समान रूप से कहना है कि वसन्त,  
ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर में क्रमशः अग्नि, इन्द्र, पर्जन्य  
या मरुत्, मित्रवस्त्रा, इन्द्र-विष्णु और इन्द्रबृहस्पति के छह-छह ऋतु-  
पशुओं से यजन करें।<sup>5</sup>

ब्राह्मण उत्तर संवत्सर की सभी ऋतुओं में ऋतुपशुओं से यजन  
करने का विधान इसलिये करता है क्योंकि उस की दृष्टि में ऋतुएँ ही  
संवत्सर हैं<sup>6</sup>। सभी ऋतुओं के अधिष्ठातृदेवों को ऋतुपशुओं से यजन कराकर

1.

2. श. भा. 13/4/1/1.

3. 'सर्वकामस्येति मुमुक्षोः' का भा. 0, का. 0 अ. 0 सू. 20/1/1.

4. 'तद् ब्रह्मण्येवाततः प्रतितिष्ठति।' श. भा. 0 13/5/4/25.

5. श. भा. 13/5/4/28; का. 0 अ. 0 सू. 20/8/30.

6. 'षट् ऋतवः संवत्सरः।' श. भा. 13/5/4/28.

वह अश्वमेधायाजी को संवत्सर में प्रतिष्ठित करना चाहता है । ब्रह्मणः ऋतुपशुओं की समग्र संख्या 'कृत्तीस' का प्रतीक-आत्मक उपयोग भी करता है । उस का कहना है कि वेद के 'बृहती' छन्द के अक्षर ऋतुपशुओं की गणति कृत्तीस होते हैं<sup>1</sup>। अतः कृत्तीस ऋतुपशुओं यहाँ बृहती छन्द का प्रतीक कहा जा सकता है । किन्तु ब्रह्मणः स्वयम् बृहती छन्द को स्वर्ग का आधार बताता है<sup>2</sup>। अतः ऋतुपशु परम्परा से स्वर्ग के प्रतीक भी हुए।

ऋतुपशुओं से यजन अश्वमेधा के उत्तर संवत्सर में होता है ।

ब्रह्मणः अवभृत इष्टि के रूप में बृहस्पति के निमित्त सात अनुबन्ध्याओं का आलभन कराकर अश्वमेधा के यजमान को ब्रह्म में प्रतिष्ठित करा चुका है<sup>3</sup>। और आलभन की जाने वाली गायों के बाधपन से प्रतीकायित रूप में यजमान के कार्यों को शुभाशुभ फलों से रहित बता चुका है । फिर भी वह उस के लिये ऋतुपशुओं से यजन करने का विधान करता है। अतः जिज्ञासा होती है कि 'ब्रह्मप्राप्ति' और 'कर्मबन्धा मुक्ति' हो जाने के बाद अश्वमेधायाजी ऋतुपशुओं से यजन क्यों करे ? इस जिज्ञासा के उपशमनार्थ कहा जा सकता है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मप्राप्ति के बाद भी लोकव्यवहार के हेतु से शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करता रहता है। उस के कर्म स्वयम् के लिये न किये के बराबर होते हैं<sup>4</sup>। राजा जनक इस में सबसे बड़ा प्रमाण हैं । ब्रह्मणः ऋतुपशुओं के यजन से प्राप्त होने वाली जिस 'स्वर्ग प्रतिष्ठा' का उत्तेजा कर रहा है वह उन के लिये है जिन्हें 'सत्तामात्र' हो जाने की अपेक्षा 'स्वर्ग' अभीष्ट है ।

-----

1. 'षट्त्रिंशदेते पशवो भावन्ति । षट्त्रिंशदक्षराः बृहती ।' वही

2. 'बृहत्यामधि स्वर्गं लोकः ।।' वही .

3. श. भा. 13/5/4/25 .

4. भा. गी० 4/18, 20, 21, 22, 23, 33, 37, 41, :



\*\*\* ષ ષ્ઠ-અધ્યાય\*\*\*  
\*\*\*\*\*

## अश्वमेधा के यूपों और यूपान्तरातों में पशुआलभान

### I

#### इक्कीस यूपों में पशु-आलभान

अश्वमेधा के एकविंश अह में यूपों में ग्राम्य पशुओं का आलभान करने का विधान है । 'अश्वस्तूपरों गोमृगः' (वा. सं 24/1) से 'श्वेताः सौर्याः' (वा. सं 24/19) तक के ग्राम्यपशु 327 हैं । इन में 22 एकादशेनीपशु (वा. सं 29/58-59) मिला कर ग्राम्यपशुओं की कुल संख्या 349 हो जाती है । श्रौतसूत्रकार कात्यायन, कात्यायनश्रौतसूत्र के भाष्यकार आचार्य कर्क और उन के अनुवर्तक संक्षिप्तसारकार का इन पशुओं के आलभान के संदर्भ में मत है कि अग्निष्ठयूप में अश्व, तूपर, गोमृग, बारह अश्वार्द्धपशु और दस आग्नेय एकादशेनी पशुओं को मिला कर कुल सत्रह ग्राम्यपशुओं का आलभान करे । अग्निष्ठ से बाद के यूपों में यूपोच्छ्रयणक्रम से 'रोहिता धूमरोहिताः' (वा. सं 24/2) से आरम्भ होने वाले 312 ग्राम्य पशुओं का पन्द्रह-पन्द्रह के कम से आलभान करे । इन में एक-एक एकादशेनी पशु और मिलाकर कुल 16 ग्राम्यपशु प्रति यूप के हिसाब से आलभान करे ।

1- (क) 'अग्निष्ठे श्वतूपरगोमृगाग्निनयुनक्ति ।' का. श्रौ. सू 20/6/2.

'पर्धाङ्ग्यानश्वे ।' वही 20/6/3

'प चदशप चदश रोहितादीन्त्सौर्यान्तानितरेषु' वही 20/6/5

'मध्यम आग्नेयी ।' वही 20/4/24

(७) 'इतरेषु यूपेषु प चदशरोहितादीन् सौर्यान्तान्निनयुनक्ति ।

यूपोच्छ्रयणक्रमेण प्रवृत्तेः । क० भा०, का. श्रौ. सू 20/6/5

'नियुत्येते शेषा व्यत्यासेन ।' वही, 20/4/24

(ग) 'रोहिता धूमरोहिता इत्यादीन् प चदश प चदश पशून् सौ-

र्यान्तान् श्वेताः सौर्याः इत्यन्तान् इतरेषु यूपेषु उच्छ्रयण-

क्रमेण नियुनक्ति । 'सं सा. टी०, का. श्रौ. सू 20/6/5 .

'मध्यमे यूपे प्रथमौ पशू आग्नेयी आलम्भनीयी ।' वही 20/4/24

किन्तु उक्त स्म में ग्राम्यपशुओं का यूपों में आलभान करने पर 349 पशुओं में से 12 पशु आलभान किये जाने से बच रहते हैं। अतः वाजसनेयी संहिता के भाष्यकार<sup>1</sup> महीधार, शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी और कात्यायनश्रौतसूत्र के टीकाकार देव-याज्ञिकाचार्य कात्यायन आदि के उक्त मत को सही नहीं मानते<sup>2</sup>। ग्राम्यपशुओं के यूपालभान के प्रसङ्ग में कात्यायन आदि के मत को सही न मानने का एक अन्य प्रमुखा कारण वे बारह पशु भी हैं जो अश्व को जंगों पर बाँधे जाते हैं। कात्यायन आदि इन्हें 'पर्यङ्ग्य' मानते हुए भी इन का अग्निष्ठ यूप में आलभान भी मानते हैं जो कदापि उचित नहीं है। उक्त मत को उचित न मानने का एक अन्य कारण यह भी है

1. वाजसनेयी संहिता के भाष्यकार उषट की स्थिति कुछ विचित्र है।

वे 'रोहिता धूम रोहित इत्यादयः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्या इत्येवमन्तः इतरेषु यूपेषु' (वा. सं 24/2) कहकर जहाँ कात्यायन आदि के मत का समर्थन करते हैं वहीं वा. सं 24/2 से आगे के मन्त्रों में महीधार को व्याख्या को यथावत् स्वीकार कर उन के निर्देश का उल्लंघन भी करते हैं।

2- (क) 'तत्र त्रयो श्वतूपरगामृगाः द्वाँ चाग्नेयावेकादशिनौ द्वादश रोहितादयः एवं सप्तदश मध्यमे यूपे। ततः पृषती क्षुद्रपृषतीत्यादीनां श्वेताः सौर्या इत्यन्तानां शतत्रय संख्याकानां पशूनां मध्ये प चदश प चदश पशूनेकैकस्मिन् यूपे युनक्ति।' म0भा0, वा. सं 24/2 (७A) 'एवं कर्ष्यमाने द्वादश पशवो तिरिच्येरन् । xxx । त्रय अश्वदयो द्वादश रोहितादयो द्वाँ चाग्नेया इत्येतैः सप्तदश मध्यमे यूपे। षाडश षाडशति तु यथाऽक्तमेवेति ।' ३३

हरि0भा0 13/2/2/13

(ग) दे० देवयाज्ञिक टीका 20/6/5.

किं कात्यायन ने 'प च दश प च दश रोहितादीन्त्सौर्यान्तानितरेषु' रूप में जो सूत्र बनाया और व्यवस्था दी कि 'रोहिता धूम्ररोहितः' से आरम्भ होने वाले ग्राम्यपशुओं का 'अग्निष्ठयूप' से इतर यूपों में आलभन किया जाये उस का कोई आधार नहीं है। वाजसनेपिसंहिता और शतपथ ब्राह्मण-इन दोनों में ही ऐसा कोई भी वाक्य या वाक्यांश देवाने को नहीं मिलता है जिस से प्रकट होता हो कि 'रोहिता धूम्ररोहितः' से आरम्भ होने वाले ग्राम्यपशुओं का 'अग्निष्ठ' से इतर यूपों में ही आलभन किया जाना चाहिये। अतः यूपों में पशुआलभन के प्रसङ्ग में महीधर और हरिस्वामी आदि को प्रमाण मानना ही उचित है कात्यायन आदि को नहीं। अश्वमेधा के एकविंश अह में प्रत्येक ऋ यूप में आलभन किये जाने वाले पशु इस प्रकार है :-

#### अग्निष्ठयूप या प्रजामयूप के पशु

अश्वमेधा का अश्व, एक भृङ्ग रहित अज और एक गोमृग 'प्रजापति देव' के निमित्त आलभन किये जायें। अश्व के शरीर को तैराने के लिये तैयार किये गये तुम्बीफल की धाति चारों ओर से रस्सी से बांधा कर गुम्फित रज्जु में 'अमुस्यै जुष्टं नियुनज्मि' मन्त्र के साथ उसके मस्तक पर 'अग्नि' के लिये कृष्णग्रीव हाग का, हनु के नीचे 'सरस्वती' के लिये मेषी का और आगे के पैरों पर 'अश्विनीकुमारों' के निमित्त अधोभाग में शुकर्वा दो हागों का आलभन करे। 'सोम' और 'पूषन' के निमित्त एक काले हाग का नाभि पर आलभन करे। 'सूर्यदेव' के निमित्त श्वेत और 'यमदेव' के निमित्त कृष्णवर्ण एक-एक हाग का अश्व के दोनों पार्श्वों में एवं जंघाओं पर बातों वाले दो हागों का अश्व की जांघों पर 'त्वष्टा' के निमित्त आलभन करे। 'वायुदेव' के निमित्त एक श्वेत पशु अश्व की पूँछ पर आलभन करे। 'इन्द्र' के निमित्त एक बन्ध्या गाय का और 'विष्णु' के निमित्त एक बौने

छाग का आलभान भी अश्व की पूँछ पर ही करे । रोहित, धूमरोहित और कर्कंधु रोहित तीन पशुओं का 'सोम' के निमित्त यूप में आलभान करे । वध्रु, अस्थावध्रु और शुक्रवध्रु तीन पशुओं का 'वस्था' के निमित्त; शितिरन्ध्र, अन्यत्शितिरन्ध्र और समत्तशितिरन्ध्र तीन पशुओं का 'सरस्वती' के निमित्त एवं शितिबाहु, अन्यत्शितिबाहु और समन्तशितिबाहु इन तीन पशुओं का 'बृहस्पति' के निमित्त यूप में आलभान करे । दो आग्नेय एकादशिनियों का भी यूप में ही आलभान करे । ये सब मिल कर ( 3 + 12 + 12 + 2 ) 29 पशु है जिन में 17 का आलभान 'अग्निष्ठ' में है और 12 का अग्निष्ठ में बंधी हुए अश्व में ।

### द्वितीय यूप के पशु

विचित्र वर्ण के बिन्दुओं से युक्त शरीर वाला, सूक्ष्म विचित्र वर्ण के बिन्दुओं से युक्त शरीर वाला और स्मृत विचित्र वर्ण के बिन्दुओं से युक्त शरीर वाला एक-एक स्त्री पशु (कुल तीन) 'मित्रवस्था' देवता के लिये आलभान करे<sup>1</sup> । शुभ्र वालों वाला, सर्वशुभ्र वालों वाला मणि के रंग जैसे वालों वाला-ये तीन पशु 'अश्विनी देवता' के निमित्त आलभान करे । श्वेत रंग का, श्वेत नेत्रों का और रक्त वर्ण का-ये तीन पशु पशुपति रुद्र देवता के निमित्त आलभान करे । चन्द्रमा जैसे श्वेत कानों वाले तीन पशु 'यम' देवता के लिये आलभान करे । तीन गर्विले ( अवलिप्ताः ) पशु रुद्र देवता के लिये आलभान करे<sup>2</sup> । इन में एक एकादशिनी पशु का आलभान और मिल कर ये सौलह हो जायेंगे ।

1- बा. सं. 24/2 .

2- वही 24/3 .

### तृतीय यूप के पशु

आकाश जैसे नीले वर्ण के तीन पशु 'पर्जन्य' देवता के लिये, पृथिवी, तिरश्चीनपृथिवी और अर्धपृथिवी ये तीन पशु 'मस्तुदेव' के लिये और अपुष्ट शरीरा, लालरंग वाली एवं श्वेता-ये तीन बकरी सरस्वती देवी के लिये आलभान करे। प्लीहा रोग से युक्त कानों वाला, छोटे कानों वाला और लाल रंग के कानों वाला-ये तीन पशु त्वष्टा देवता के निमित्त आलभान करे। काली कर्दन वाला, सफेद कौरवा वाला और मज्जुत जाँघों वाला-ये तीन पशु 'इन्द्रवृष्णि' देवता के लिये आलभान करे। एक एकदशिनी का आलभान करे।

### चतुर्थ यूप के पशु

कृष्णाणि ज, उत्पणि ज और महाणि ज-ये तीन पशु 'उषा' देवता के लिये आलभान करे विचित्रवर्ण के तीन स्त्री पशु 'धेनुदेव' के लिये आलभान करे और रक्तवर्ण की एवं एक वर्षा और छ माह की आयु की तीन बकरी 'वाक्' के निमित्त आलभान करे। कृष्णग्रीव इत्यादि अभिज्ञान चिह्नों से शून्य तीन पशु 'अदिति' के निमित्त एवं समान रूप के तीन पशु 'धातु' के लिये आलभान करें<sup>2</sup>। इन में एक एकदशिनी मिलकर सौलह होते जाते हैं।

### पचमयूप के पशु

तीन वत्सतरियाँ<sup>3</sup> (बकियाँ) का 'देव ताजा' की पत्नियाँ के लिये आलभान करे। कृष्णग्रीव तीन पशुओं का 'वृष्णि' के निमित्त, श्वेत-

1. वही 24/4

2. वही 24/5 .

3. 'वत्सतर्यः वत्सकाः ।' म. भा. वही ।

वर्ण की भाँओं से युक्त तीन पशुओं का 'वसुदेवता' के निमित्त और रक्तवर्ण के तीन पशुओं का 'रुद्र' देवता के निमित्त आलभन करे। श्वेत अवरोक्ति<sup>1</sup> तीन पशुओं का 'आदित्य' देवता के लिये आलभन किया जाये<sup>2</sup>। एक एकदशिनी मिल कर ये सोलह हो जायेंगे।

#### षष्ठ यूप के पशु

आकाश जैसे रंग वाले तीन पशुओं का 'पर्जन्य' के लिये आलभन करे। उँवा, पुष्ट और बौना-ये तीन पशु 'इन्द्रविष्णु' के निमित्त, उन्नत, शितिबाहु और शितिपृष्ठ-ये तीन पशु 'इन्द्रबृहस्पति' के निमित्त एवं ताँते जैसे रङ्ग वाले तीन पशु 'वज्रदेवता' के निमित्त आलभन किये जायें<sup>3</sup>। कर्बुरवर्ण के तीन पशु 'अग्निमस्तु' के निमित्त भी इसी यूप में बाँधी जायें। इन सब में एक एकदशिनी के मिलने पर इन की संख्या सोलह हो जाती है।

#### सप्तम यूप के पशु

श्यामवर्ण<sup>4</sup> के तीन पशु 'पूषन्' के लिये, कर्बुरवर्ण के तीन 'इन्द्रअग्नि' के लिये और दुरंगे तीन पशु 'अग्निर्गोम' के लिये आलभन करे। तीन बौने अनडूबाह 'अग्निविष्णु' के लिये और तीन बन्ध्या बकरी 'मित्रवस्था' के लिये आलभन की जायें<sup>5</sup>। एक एकदशिनी का आलभन करे।

1. 'श्वेताः अवरोक्तिः अक्लौक्तिः। यद्वा अवाधास्ताद्रोक् छिद्रम् येषाम् ते।' म भा. , 24/6

2. वा. सं 24/6.

3. वा. सं 24/7

4. 'श्यामाः शुक्लकृष्णवर्णाः।' उवभा०, वा. सं 24/7

5. वा. सं 24/8.

### अष्टम यूप के पशु

एक बाल में कर्बुरवर्ण की तीन बकरी 'मित्र' के लिये, कृष्ण-  
ग्रीव तीन पशु 'अग्नि' के लिये और बभ्रुवर्ण के तीन पशु 'सोम' के  
लिये आलभान करे । श्वेतवर्ण तीन पशु 'वायु' के निमित्त और  
चिह्न विशेषों से न चुने गये तीन पशु 'अदिति' के निमित्त आलभान  
करे । एक एकादशिनी का आलभान करे<sup>2</sup> ।

### नवम यूप के पशु

समान रूम के तीन पशु 'धातृ' के लिये तीन वत्सतरी  
'देवपत्नियो' के लिये और तीन कृष्णवर्ण के पशु 'भूमि' के लिये  
आलभान किये जायें । धूम्रवर्ण के तीन पशु 'अन्तरिक्षा' के लिये और  
महान् आकार के तीन पशु 'द्यु' के लिये आलभान किये जायें<sup>3</sup> । एक  
एकादशिनी का आलभान किया जाये ।

### दशवें यूप के पशु

शवलवर्ण<sup>4</sup> के तीन पशु 'विद्युत्' के निमित्त, सिध्म रोग से  
मस्त तीन पशु 'नक्षत्र' के निमित्त और धूम्र वर्ण<sup>5</sup> के तीन पशु  
'वसन्त' के लिये आलभान करे । तीन श्वेत पशु 'ग्रीष्म' के लिये और  
तीन कृष्णवर्ण के पशु 'वर्षा' के लिये आलभान करे । एक एकाद-  
शिनी का आलभान करे । ये सब सौलह हो जायेंगे ।

1. 'वभ्रुक कपिलवर्णाः' ) म०भा०, वही

2. वा. सं 24/9 .

3. वा. सं 24/10 .

4. 'शक्ताः कर्बुराः' उ०भा०, वही ।

5. 'धूम्रवर्णान् त्रीनजान् वसन्ताय ।' मही०भा०, वा. सं 24/11 .



### ग्यारहवें यूप के पशु

अष्टावर्षा तीन पशु 'शरद' के लिये, अनेक रङ्गों की कुंदकियों से युक्त तीन पशु 'हेमन्त' के लिये और लोहितमिश्र कपिलवर्ण के तीन पशु 'शिशिर' के लिये आलभन करे । एक वर्ष का माह के तीन पशु 'गायत्री' के निमित्त और दो वर्ष का माह की आयु के तीन पशु 'त्रिष्टुभा' के निमित्त आलभन करे । एक एकादशिनी पशु का आलभन करे ।

### बारहवें यूप के पशु

दो वर्ष की आयु के तीन पशु 'जगती छन्द' के लिये, तीन वर्ष की आयु के तीन पशु 'अनुष्टुप' के लिये और तीन वर्ष का माह की आयु के तीन पशु 'उष्णिह' के निमित्त बांधो <sup>2</sup> चार वर्ष के तीन पशु 'विराज' के लिये और वीर्यसेवन में समर्था तीन युवा पशु <sup>3</sup> 'बृहती' के निमित्त आलभन करे । एक एकादशिनी का आलभन करे ।

### तेरहवें यूप के पशु

वीर्य सेवन में समर्था किन्तु अधिक आयु के (अष्टमाः) तीन पशु 'ककुभा' के निमित्त, गाड़ी छींचने में सक्षम तीन पशु <sup>4</sup> 'पक्षि' के निमित्त और नवप्रसूता तीन धोनु <sup>5</sup> 'अतिच्छन्दस' के निमित्त आलभन करे । कृष्णाग्नीव तीन पशु 'अग्नि' के निमित्त और वधुवर्ण

1. 'सार्धासंवत्सरास्त्रयः गाय यैः । सार्धाद्विषसंवत्सरास्त्रयः त्रिष्टुभाः ।'

वही, 24/12

2. उ०भा०, वही ।

3. 'उक्षाणां बृहत्या' वा. सं. 24/13

4. 'शकटवहन समर्था अजास्त्रय पक्ष्यैः ।' म. भा. वही

5. 'धोनेन नवप्रसूता अजास्त्रिः ।' वही

के तीन पशु 'सौम' के निमित्त आलभान करे<sup>1</sup>। एक एकादशिनी का आलभान करे ।

### चौदहवें यूप के पशु

अथाः पतनगुण विशिष्ट<sup>2</sup> तीन पशु 'सक्ता' के लिये, तीन वत्सतरी 'सरस्वती' के लिये और तीन रुपाम पशु 'पूष' के लिये आलभान करे । तीन तनुकाय या विचित्रवर्ग<sup>3</sup> ४ के पशु 'मस्त' के निमित्त और तीन बहुस्प पशु 'वैश्वदेव' के निमित्त आलभान करे । एक एकादशिनी का आलभान करे ।

### पन्द्रहवें यूप के पशु

तीन बन्ध्यापशु 'द्यावापृथिवी' के निमित्त, कृष्णाग्नीव तीन पशु 'अग्नि' के निमित्त और कपिलवर्ण के तीन पशु 'सौम' के निमित्त आलभान करे । अथाः पतनधर्म युक्त तीन पशु 'सक्ता' के निमित्त और तीन वत्सतरी 'सरस्वती' के निमित्त आलभान करे । एक एकादशिनी का आलभान करे<sup>4</sup> ।

1. इस यूप में 'कृष्णाग्नीव' तीन पशु और 'वधुवर्ण' तीन पशु ये छः

'वातुर्मास्य देवतापशु' हैं । इस प्रकार तेरहवें यूप से वातुर्मास्यवर्ग के वैश्वदेव पशुओं का आलभान आरम्भ हो जाता है ।

2. 'वर्णान्तरमिश्रिताः वा' मही०भा०, वा. सं 24/14

3. 'पश्यन्ते मास्ताः ।' वा. सं , वही .

4. 'वातुर्मास्य' के 'वस्था प्रधास पर्व' के आरम्भ के पन्द्रह पशु वही हैं जो 'वैश्वदेव पर्व' के पहले पन्द्रह पशु थी ।

### सोलहवें यूप के पशु

तीन शुक्लकृष्णवर्ण के पशु 'पूष' के निमित्त, तीन कर्बुरवर्ण के पशु 'इन्द्रअग्नि' के निमित्त और तीन कृष्णवर्ण के पशु 'वस्त्रा' के निमित्त आलभान करे । तनुकाय तीन पशु 'मस्त' के लिये और निःशृङ्ग तीन अज' क देवता' के लिये आलभान करे<sup>1</sup> । एक एकादशिनी का आलभान करे ।

### सत्रहवें यूप के पशु

प्रथमगर्भा में उत्पन्न तीन बकरे 'अनीकवत् गुण - विशिष्ट अग्नि' के लिये, आधी में भी छाड़े रह सकने में समर्था तीन अज'सातपन मस्त' के लिये और चिरमसूत तीन पशु ( संभावतः अज ही ) 'गृहमेधि मस्त' के लिये आलभान करे । सहसृष्ट तीन पशु 'क्रीडिमस्त' के लिये और अनुक्रम से उत्पन्न तीन पशु 'स्वतवत् मस्त' के लिये आलभान करे<sup>2</sup> । एक एकादशिनी का आलभान करे ।

### अठारहवें यूप के पशु

कृष्णाग्नीव तीन पशु 'अग्नि' के निमित्त, कपिलवर्ण के तीन पशु 'सोम' के निमित्त और उपध्वसन धर्मयुक्त तीन पशु 'सविता' के निमित्त आलभान करे । तीन वत्सतरी 'सरस्वती' के निमित्त और शुक्लकृष्णवर्ण के तीन पशु 'पूष' के निमित्त आलभान करे<sup>3</sup> । एक एकादशिनी का आलभान करे ।

1. वा. सं 24/15

2. वही 24/16

3 अठारहवें यूप में आरम्भ के पन्द्रह पशु 'संवर' हैं जो यही 'महाहवि' के अङ्ग बन कर आये हैं ।

### उन्नीसवें यूप के पशु

कर्बुरवर्ण के तीन पशु 'हन्द्रअग्नि' के लिये, प्रकृष्ट भृङ्गा युक्त<sup>1</sup> तीन पशु 'महेन्द्र' के लिये और अनेक स्पाँ के तीन पशु 'विश्वकर्मा' के लिये आलभान करे<sup>2</sup>। कृष्णवर्णमिश्र ताहितवर्ण के और कपिलवर्ण जैसे तीन पशु<sup>3</sup> 'सोमवत् पितरों' के लिये और कपिल एवं धुएँ जैसे तीन पशु 'बर्हिषद् पितरों' के लिये आलभान करे<sup>4</sup>। एक एकादशिनी का आलभान करे।

### बीसवें यूप के पशु

कृष्ण एवं कपिलवर्ण सदृश तीन पशु 'अग्निष्वात्त पितरों' के निमित्त, कृष्ण एवं बिन्दु युक्त तीन पशु 'यम्बक' के निमित्त<sup>5</sup> और कृष्णकृष्णगीव तीन पशु अग्नि के निमित्त आलभान करे। अधा पतनधर्म युक्त तीन पशु 'सविता' के लिये और कपिलवर्ण के तीन पशु 'सोम' के लिये आलभान करे। एक एकादशिनी का आलभान करे।

### दक्कीसवें यूप के पशु

तीन वत्सतरी 'सरस्वती' के निमित्त, तीन शुक्लकृष्णवर्ण के पशु 'पूष' देवता के निमित्त और कर्बुरवर्ण के तीन पशु 'शुनासीर'

1. प्राअङ्गाः महेन्द्राः । 'वा. सं. 24/17

2. 'महाहवि' में ये नौ पशु ही ऐसे हैं जो 'संवरपशु' नहीं हैं।

3. म भा०, वा. सं. 24/18

4. वही

5. 'पि येष्टि पर्व' में मात्र 12 पशु हैं। बीसवें यूप में पि येष्टि के अन्तिम छः पशुओं का ही आलभान किया जाता है।

के निमित्त आलभान करे । श्वेतवर्ण के तीन पशु 'वायु' के लिये और श्वेतवर्ण के ही अन्य तीन पशु 'सूर्य' के लिये आलभान करे<sup>1</sup> । एक एकादशिनी का आलभान करे ।

इस प्रकार हम देखाते हैं कि अश्वमेधा के एकविंशत्रह में इक्कीस यूपों में कुल 349 ग्राम्यपशुओं का आलभान होता है । यह सही है कि प्रथम यूप 'अग्निष्ठ' से सम्बन्धित ग्राम्यपशुओं की संख्या 29 है किन्तु इन में से 'यूपपशु' केवल सत्रह को ही माना जाता है । क्योंकि वास्तविक स्म में यूप में आलभान सत्रह का ही होता है । बारह तो ऐसे हैं जिन का आलभान यूप में न होकर अश्व में होता है ।

हरि स्वामी का एक स्थान पर कहना है: 'पंचदशिनश्चातुर्मास्या एकादशिना इत्येव त्रेधा ग्राम्यान्पशून्वस्थाप्य त्रीणि दर्शनानि ।'<sup>2</sup> अपने इस कथन में हरिस्वामी ने केवल पंचदशिनी, चातुर्मास्य और एकादशिनी पशुओं को ही 'ग्राम्यपशु' माना है । 'पंचदशिनी' वे उन पशुओं को मानते हैं जिनके सम्बन्ध में 'पन्द्रह' की संख्या ही प्रमाण रही है<sup>3</sup> । इन्हें परिगणित करने के उद्देश्य से उन्होंने कहा है: 'कासुचित् कण्डिकासु (वा. सं. 24/19) पंचदश पशवः पठ्यन्ते । कासुचिदधिकाः । कासुचिदूनाः । तत्र यासु पंचदश पठ्यन्ते तासु ये पशवः ते पंचदशिन इत्युच्यन्ते ।'<sup>4</sup> पंचदशिनियों के सन्दर्भ में आये हरिस्वामी के उक्त उल्लेखों को यदि सही मान

1. 'एताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्याः ।'

वा. सं. 24/19 .

2. हरिऽभा. 10, श. 0. भा. 13/2/5/1 .

3. 'पंचदश संख्या प्रमाणा येषां ते पंचदशिनः ।' वही

4. वही .

लिया जाये तो वाजसनेयिसंहिता के चौबीसवें अध्याय की तीसरी, चौथी, नवीं और ग्यारहवीं कण्डिकाओं में वर्णित पशु 'ग्राम्यपशु' नहीं कहलायेंगे। क्योंकि पन्द्रह पशु प्रति कण्डिका के हिसाब से न आकार क्रमशः 12, 16, 18 और 18 की संख्या में आये होने के कारण न तो ये पंचदशिनी कहे जा सकते हैं और चातुर्मास्य<sup>1</sup> में गिने हुए न होने के कारण<sup>1</sup> न ये चातुर्मास्य ही कहे जा सकते हैं। हरिस्वामी के उद्धृत उल्लेख 'एकादशिनियों' के अतिरिक्त केवल 'पंचदशिनी' और 'चातुर्मास्य' को ही ग्राम्यपशु प्रकट करते हैं। अतः हरिस्वामी का पंचदशिनी<sup>2</sup>, चातुर्मास्य और एकादशिनियों को ही 'ग्राम्यपशु' कहना उचित नहीं है। 'अश्व' से 'श्वेताः सौर्याः' तक के सभी 327 पशु 'ग्राम्यपशु' हैं। महीधर ने 'अश्व' आदि सौर्याः सप्तविंशत्यधिक-शतत्रय ग्राम्याः पशवः<sup>3</sup> ऐसा कहा भी है। एकादशिनियों का यूपों में आलम्बन होता है। यूपों में आलम्बन केवल ग्राम्यपशुओं का ही हो सकता है। एकादशिनियों से यज्ञ भी होता है। यज्ञ को केवल ग्राम्या<sup>4</sup> से ही सम्पन्न करने का विधान है। अतः एकादशिनियों के ग्राम्य न मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। अतः ऊपर वर्णित सभी 349 पशु जिन में 'पर्यङ्गय', पंचदशिनी, 'चातुर्मास्य' और 'एकादशिनी' पशु सम्मिलित हैं ग्राम्यपशु हैं और इन सब का एकविंश या मध्यम अह में अश्वमेधा के अग्निष्ठ आदि इक्कीस यूपों में आलम्बन होता है।

1. हरिः भा०, श. ब्रा. 13/2/5/2

2. पंचदशिनी पशुओं के सन्दर्भ में देखें ऊपर, शां० प्र०, पृ०

3. मही० भा०, वा. सं. 24/19.

4. श. ब्रा. 13/2/4/2, 4.

### प्रतीकात्मकता

ग्राम्यपशुओं का यूपालभान मात्र दो संख्याओं में होता है-सत्रह में और सौलह में। अग्निष्ठयूप में सत्रह पशु आलभान किये जाते हैं और शेष यूपों में सौलह-सौलह। 'अग्निष्ठ' अश्वमेधा का सर्वश्रेष्ठ यूप है। अश्वमेधा के अश्व का उसी में आलभान किया जाना उस की श्रेष्ठता का स्पष्ट प्रमाण है। अतः उस में अन्यो की अपेक्षा एक पशु का अधिक रहना समझ में आता है। शेष यूप अग्निष्ठ की तुलना में कम महत्व के हैं। अतः उन में अग्निष्ठ से एक पशु कम ही रहता है।

अग्निष्ठ से इतर यूपों में सौलह की संख्या में ही पशुओं को रजाने के सन्दर्भ में ब्रह्मण का वाक्य है : 'षोडशकलं वा इदं सर्वम् । तदिदं सर्वमवरुन्धते'<sup>1</sup>। इस में कहा गया है कि यजमान सौलह कलाओं वाले इस सब को यूपों में सौलह पशुओं के आलभान से प्राप्त करता है। ब्रह्मण की दृष्टि में 'इदं सर्वम्' 'षोडशकल' है। किन्तु प्रश्नोपनिषद् का कहना है कि जो पुरुष शरीर के भीतर स्थित है, सौलह कलायें उसी से उत्पन्न होती हैं<sup>2</sup>। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार पुरुष से उत्पन्न होने वाली ये सौलह कलायें हैं-प्राण, अद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम<sup>3</sup>। छान्दोग्य उपनिषद् का भी ऐसा ही मन्तव्य है। उसके अनुसार ब्रह्म चार पाद और सौलह कलाओं वाला है। ब्रह्म के चार पाद हैं-प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् और आयतनवान्<sup>4</sup>। इन चार चतुष्कल

1. श. भा. 13/2/2/13

2. 'इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषा यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभावन्तीति।' प्रश्नो 6/2.

3. 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छुद्धां रवं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनो अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोक लोकेषु नाम च।' वही 6/4

4. ङा 0340 4/5/2, 4/6/3, 4/7/3, 4/8/3.

पादों की सौलह क्लायें हैं- प्राची दिक्क्ला, प्रतीची दिक्क्ला, दक्षिणा दिक्क्ला उदीची दिक्क्ला, पृथिवीक्ला, अन्तरिक्षा क्ला, द्या क्ला, समुद्र क्ला, अग्निक्ला, सूर्यक्ला, चन्द्रक्ला, विद्युत् क्ला, प्राण क्ला, चक्षु क्ला, श्रोत्रक्ला और मनः क्ला ।

प्रश्न और छान्दोग्य- दोनों ही उपनिषद् अपनी-अपनी तरह से पुरुष या ब्रह्म की जिन सौलह क्लाओं का उल्लेख करते हैं वे अपने संयुक्तरूप में जगद्रूप से भिन्न नहीं हैं । उद्धृत वाक्य में शतपथ जगत् को 'षाडशक्ल' कह रहा है । अतः प्रश्न, छान्दोग्य और शतपथ के प्रतिपादनों में साम्य ही है वैषम्य नहीं । सहिताओं और उपनिषदों में ऐसे वाक्य प्रभूत मात्रा में मिलते हैं जिन में परिदृश्यमान् जगत् को पुरुष या ब्रह्म कहा गया है<sup>2</sup> । ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जहाँ जगत् को परमात्मा के नाम और रूप से ही सुशोभित होने वाला बताया गया है<sup>3</sup> । 'इदं सर्वम्' के 'जगत्' और 'ब्रह्म' दोनों ही होने का रहस्य यह है कि उस की षाडश क्लायें व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से अवास्तविक हैं । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रह्म के नाम और रूप व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ होते हुए भी परमार्थ दृष्टि से अवास्तविक हैं<sup>4</sup> । अतः स्पष्ट है कि 'अग्निष्ठ' से इतर यूपों में आतमान होने वाले सौलह-सौलह पशु प्रतीकयित करते हैं कि यजमान अश्वमेधा से यजन करके षाडशक्ल जगत् की उपलब्धि करता है-अर्थात् जगत् में जो कुछ श्री, सर्वविधा, वैभाव आदि संभाव हो सकते हैं, उन सब का वह अधिपति हो जाता है ।

1- छां. 4/5/2, 4/6/3, 4/7/3, 4/8/3

2- (क) 'पुरुष एवेदं सर्वम्' ऋ0 10/90/2

(छां) 'सर्वं तात्त्विकं ब्रह्म ।'

3- 'तस्यैव नामादि विशेष स्मैरिदं जगद्भाति महानुभाव ।'

सं सु 2/7

4- (क) 'निर्देश्य सभ्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्व वैरूप्यमुदाहरन्ति ।' 'वही

(छां) 'विश्वस्वरूपवैरूप्य लक्षणं परमात्मनः ।।' पराशर ।



ब्राह्मण का कथन है : 'सप्तदशो वै प्रजापतिः । प्रजापति-  
 रश्वमेधाः । अश्वमेधास्य आप्त्यैः<sup>1</sup> ।' इस में बताया गया है कि प्रजापति  
 'सप्तदश' है - अर्थात् सत्रहवा है । ऊपर आयी क्लाओं से प्रजापति  
 के सप्तदशत्व का निकट का सम्बन्ध है । निरपेक्षा रूप (अपवाद) में  
 तो वह 'इदं सर्वम् भी नहीं' है क्योंकि उपनिषद् का कहना है 'एव-  
 मेवास्य पारेद्वष्टुरिमाः षोडश क्लाः पुरुषायणाः पुरुष प्राप्यास्तं  
 गच्छन्ति भिद्येते चासी नामस्मे<sup>2</sup> । किन्तु 'इदं सर्वम्' और इस की षो-  
 डश क्लाओं की अपेक्षा (अध्यास) में वह सत्रहवा है क्योंकि वही  
 'इदंसर्वम्' का अभिन्ननिमित्तीपादान कारण और नियामक है<sup>3</sup> । जगत्  
 उसी के निर्देश में अवस्थित है । जगत् का समस्त व्यवहार और क्रियायें  
 उसी के संकेत पर चल रही हैं । जिस समय ऋग्वेद कहता है 'पादौडस्य  
 विश्वाम्भूतानि'<sup>4</sup> या भागवद्गीता कहती है 'विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमे-  
 काशेन स्थितां जगत्'<sup>5</sup> या सनत्सुजातीय कहती है 'त चेत् सततमुत्क्रापेन्न  
 मृत्युर्नामृतं भावेत्'<sup>6</sup> तो इन सब का प्रतिपाद्य षोडश क्लाओं (जगत्)  
 की अपेक्षा में प्रजापति (ईश्वर) का सप्तदशत्व (एकेशत्व) ही है ।  
 ब्राह्मण प्रजापति को अश्वमेधा कहता है । किन्तु ध्यान रहे वह जिसे  
 अश्वमेधा' कहता है वह 'सप्तदश' भी है । अर्थात् षोडशक जगत्  
 की अपेक्षा जो सप्तदश है वही प्रजापति (प्रजापति का वही स्मविशेष)  
 अश्वमेधा है । ऐसे जगत् नियामक और जगद्रूप अश्वमेधा प्रजापति को  
 प्राप्त करने के लिये ही अग्निष्ठ यूप में सत्रह पशुओं का आतमान होता

1. श. ब. 13/2/2/13

2. प्रश्नो 6/5

3. भा. गी. 7/6, 7; 9/4, 8, आदि

4. ऋ. 10/90/4.

5. भा. गी. 10/42

6. स. सु. 5/12.

है। अतः स्पष्ट है कि अग्निष्ठ के अश्वदि सत्रह यजमान के लिये षोडशकल जगत् के साथ-साथ सत्रहवें उस के अधिपति की प्राप्ति को भी प्रतीकृत करते हैं।

## II

### यूपान्तरालों में पशुआलभान

अश्वमेधा के बीस यूप-अन्तरालों में एकविंश अह में ही 260 आरण्यपशुओं का आलभान करने का विधान है। आरण्यपशुओं की संख्या और उन के आलभान क्रम के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। प्रत्येक अन्तराल में अन्तरालोत्पत्ति क्रम से आलभान किये जाने वाले तैरह-तैरह आरण्यपशु इस प्रकार हैं :

#### प्रथम अन्तराल के पशु

तीन कपि जल पक्षी 'वसन्त' के निमित्त, तीन क्लविड्क<sup>1</sup> 'ग्रीष्म' के निमित्त और तीन तीतर 'वर्षा' के निमित्त आलभान करें। तीन वर्तिका (संभावतः बतजा) 'शरद' के निमित्त और एक ककर पक्षी हेमन्त के निमित्त आलभान करें<sup>2</sup>।

#### द्वितीय अन्तराल के पशु

दो ककर 'हेमन्त' के निमित्त, तीन किकर पक्षी 'शिशिर' के निमित्त और तीन शिशुमार जलचर जीवविशेष 'समुद्र' के निमित्त आलभान करें। तीन मेंढक 'पर्जन्य' के लिये और दो मछली 'जल' के लिये आलभान करें<sup>3</sup>।

1. 'क्लविड्कान् चटकान्'। 'महीभाट', वा. सं. 24/20

2. वा. सं. 24/20 वही

3. वा. सं. 24/21.

### तृतीय अन्तराल के पशु

एक मछली 'जल' के निमित्त, तीन कुलीपय 'मित्र' के निमित्त और तीन नाके 'वस्त्रा' के निमित्त आलभान करे<sup>1</sup>। तीन हंस 'सोम' के लिये और तीन क्लाक 'वायु' के लिये आलभान करे।

### चतुर्थ अन्तराल के पशु

तीन कृच पक्षी 'इन्द्र और अग्नि' देवों के निमित्त, तीन मद्गू<sup>2</sup> पक्षी 'मित्र' के निमित्त और तीन चक्रवाक पक्षी 'वस्त्रा' के निमित्त आलभान करे। तीन कुटरू<sup>3</sup> 'अग्नि' के लिये और एक उल्लू 'वनस्पतियों' के लिये आलभान करे।

### पंचम अन्तराल के पशु

दो उल्लू 'वनस्पतियों' के लिये और तीन चाण (सभावतः पक्षिषिशैष) 'अग्निसोम' के लिये नियुक्त करे। तीन मयूर 'अशिनीकुमारों' के निमित्त, तीन कबूतर मित्र वस्त्रा के निमित्त और दो लब पक्षी 'सोम' के निमित्त आलभान करे।

### षष्ठ अन्तराल के पशु

एक लब 'सोम' के लिये, तीन कौलीक पक्षी 'त्वष्टा' के लिये और तीन गोष्पादी<sup>4</sup> 'देवपत्नियों' के लिये आलभान करे। तीन कुलीका

1. नक्र का सम्बन्ध जल से है। तीन नक्रों का आलभान वस्त्रा देव के लिये हो रहा है। यह प्रकट करता है कि वस्त्रा वैदिक काल में ही जल के देवता के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे।

2. 'मद्गून् जलकाकान् ।' उव०भा०, वा. सं. 24/22.

3. 'कुटस् कुक्कुटान्' मही०भा०, वही 24/23.

4. 'गवा सादयित्रीः पक्षिणीः' वही 24/24.

पक्षी 'देववधूजों' <sup>1</sup> के निमित्त और तीन पारुष्ण 'गृहपति' के निमित्त आलभान करे ।

सप्तम अन्तराल के पशु

तीन पारावत <sup>2</sup> 'दिन' के निमित्त, तीन सीचापू स्त्री पक्षी 'रात्रि' के निमित्त और तीन जतू <sup>3</sup> नाम के स्त्री पक्षी 'जरा-रात्रसंधियाँ' के निमित्त आलभान करे । तीन दात्यूह <sup>4</sup> 'मासों' के निमित्त और एक महत् सुपर्ण 'संवत्सर' के निमित्त आलभान करे ।

अष्टम अन्तराल के पशु

दो महत् सुपर्ण 'संवत्सर' के लिये, तीन मूषक <sup>5</sup> 'भूमि' के लिये और तीन पाङ्क <sup>6</sup> 'अन्तरिक्ष' के लिये आलभान करे । तीन काश 'द्यूतांक' के लिये और दो नकुल 'दिशाओं' के लिये आलभान करे ।

नवम अन्तराल के पशु

एक नकुल 'दिशाओं' के निमित्त, तीन बभ्रुक 'अवान्तर दिशाओं' के निमित्त और तीन ऋष्य <sup>7</sup> 'वसुओं' के निमित्त आलभान करे । तीन रुक्माँ को 'रु' के निमित्त और तीन न्यङ्कुओं को 'आदित्य' के निमित्त आलभान करे ।

1. 'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः' उद्धृत, मही०भा०, वा. सं 24/24

2. 'पारावतान् क्तरवान्' मही०भा० वा. सं 24/25

3. 'जतू पात्राढ्याः' मही०भा० वही,

4. - 'दात्यूहान् कालकण्ठान्' उव०भा०, वही

5. - मसिद्धा नाम ब्रह्मदेव

6. 'प्राङ्कान् मूषकजातिविशेषान् ।' मही०भा०, वही, 24/26

7. 'ऋष्यादयोः मृगविशेषाः ।' वही, 24/27.

### दशम अन्तराल के पशु

तीन पृषत 'विश्वदेवाँ' के लिये, तीन कुड्ग 'साध्याँ' के लिये और तीन परस्वत मृगविशेष 'ईशान' के लिये आलभन करें। तीन गौर मृगविशेष 'मित्र' के निमित्त और एक महिष 'वस्त्रा' के निमित्त समर्पित करें।

### ग्यारहवें अन्तराल के पशु

दो महिष 'वस्त्रा' के लिये तीन गवय बृहस्पति के लिये और तीन ऊँट 'त्वष्टा' के लिये समर्पित करें। तीन पुरुष हाधियाँ का 'प्रजापति' के लिये और दो प्लुषियाँ का 'वाक्' के लिये आलभन करें।

### बारहवें अन्तराल के पशु

एक प्लुषी 'वाक्' के निमित्त, तीन मशक 'वक्षु' के निमित्त और तीन भारे 'अत्रि' के निमित्त समर्पित करें। 'प्रजापति' और वायु के निमित्त एक गोमृग का 'वस्त्रा' के निमित्त एक जंगली मेष का और 'यम' के निमित्त एक काले मेष का आलभन करें। एक बन्दर का 'मनुष्यराज' के लिये, एक रोहित<sup>2</sup> का 'शार्दूल' के लिये और एक गवयी का 'रुषभा' के लिये आलभन करें।

1. 'प्लुषीन् वक्षुण्डान्' मही० भा०, वा. सं. 24/29

2. 'रोहितादृष्यः' मही० भा०, वही 24/30.

3. बारहवें यूप के आठवें पशु 'गोमृग' से आरण्यपशुओं के 'दशिनीवर्ग' के पशु आरम्भ होते हैं। इन का आलभन बीसवें अन्तराल तक चलता है। इन की कुल संख्या 110 है।

### तेरहवें अन्तराल के पशु

एक वर्तिक 'क्षिप्रश्येन' के लिये, एक कृमि 'नीलङ्गवि' के लिये और एक शिशुमार 'समुद्र' के लिये आलभान करे । एक हाथी का 'हिमवत्' के लिये, एक मयू का 'प्रजापति' के लिये और एक उल, एक हलिक्षणा एवं एक वृषदशा का 'धातु' के लिये आलभान करे<sup>2</sup> । एक बगुला का 'दिशाओं' के निमित्त, एक घुड़का का 'अग्नि' के निमित्त और एक क्लबिडक एक रक्तवर्ण सर्प एवं एक पुष्करपाद का 'त्वष्टा' के निमित्त आलभान करे ।

### चौदहवें अन्तराल के पशु

एक कृ चक्षुषी 'वाक्' के निमित्त, एक कुलुङ्ग 'सोम' के निमित्त और एक जंगली बकरा, एक नकुल एवं एक शका-ये तीन 'पूषन्' के निमित्त आलभान करे । एक शृगाल 'मायु' के लिये, एक गौरमृग 'इन्द्र' के लिये और एक पिद्वा, एक न्यङ्कु एवं एक कक्कट- ये तीन 'अनुमति' के लिये समर्पित करे । एक चक्रवाक 'प्रतिश्रुत्ताया' के निमित्त, एक बगती 'सौरी' के निमित्त और एक शार्ङ्ग पक्षी 'मित्र' के लिये आलभान करे ।

### पन्द्रहवें अन्तराल के पशु

एक सृजय और एक शयाण्ड 'मित्र' के लिये आलभान करे<sup>5</sup> । मनुष्यों जैसी बोलती बोलने वाली एक तोती 'सरस्वती' के लिये, एक रेधा

1. 'मयूः तुरङ्गवदनः किन्नरः' महीभा. ८, वा. सं. 24/31.

2. 'उलो मृगविशेषः हलिक्षणाः हिंसविशेषः वृषदशा विहातः ।' महीभा. ८, वही ।

3. 'पुष्करपादः पुष्करे सीदतीति कमलभक्षी पक्षिविशेषः ।' महीभा. ८, वही ।

4. 'पिद्वा मृगविशेषः न्यङ्कु अपि कक्कट स एव ।' महीभा. वा. सं. 24/32 .

5. 'सृजय पक्षिविशेषः शयाण्डको पि ।' वही ।

'भू' के लिये और एक शार्दूल, एक वृक एवं एक पदाकु-ये तीन<sup>1</sup> 'मन्यु' के लिये समर्पित करे । एक पुरुषधाक् शुक<sup>2</sup> 'सरस्वत्' के लिये, एक सुपर्ण पर्जन्य के लिये और एक आति एक वाहस एवं एक दार्विका-ये तीन<sup>3</sup> 'वायु' के लिये समर्पित करे । एक पैद्गराज पक्षिविशेष 'बहस्पति' के लिये समर्पित करे ।

सोतहवै अन्तराल के पशु

एक अलज पक्षिविशेष 'अन्तरिक्षा' के निमित्त, एक प्लव, एक मद्गु और एक मत्स्य-ये तीन 'नदीपति' के निमित्त एवं एक कूर्म 'द्यावापृथिवी' के निमित्त आलभान करे । एक पुरुषमृग 'चन्द्रमा' के निमित्त, एक गोधा एक कालका और एक दार्वाघाट-ये तीन<sup>4</sup> 'वनस्पतियाँ' के निमित्त और एक कृक्वाकु<sup>5</sup> 'सवित' के निमित्त आलभान करे । एक हस का 'वात' के निमित्त और एक नाक्र एवं एक मकर इन दो का 'समुद्र' के निमित्त आलभान करे ।

सत्रहवै अन्तराल के पशु

एक कुलीपय<sup>6</sup> 'समुद्र' के लिये, एक शल्पक 'हिमा' के लिये और एक मृगी 'दिन' के लिये समर्पित करे । एक मेंढक, एक मूषिका और एक तीतर- ये तीन 'सर्पों' के लिये, एक लोपा श ( वनचरविशेष ) 'अश्विन्' के लिये समर्पित करे ।

1. 'शार्दूलो व्याघ्रः वृकः चित्रकः पदाकुः सर्पः' उव०भा०, वही, 24/33

2. 'सरस्वतौ समुद्राय ।' मही०भा०, वही

3. 'आतिः आढी दार्विका काष्ठकुट्टः ।' वही, वा. स. 24/34

4. 'गोधा कालका पक्षिविशेषः । दार्वाघाटः सरसः ।' वही

5. 'कृक्वाकुः ताम्रचूडः' उव०भा०, वा. स. 24/35 .

6. 'नाक्रः मकरः कुलीपयः ते त्रयो जलचरविशेषाः ।' वही

के लिये और एक कृष्णमृग 'रात्री' के लिये आलभान करे । एक  
रीछ, एक जतू और एक सुशिली का 'दत्तरजन देवा' के लिये आल-  
भान करे । एक जहका<sup>2</sup> का 'विष्णु' के लिये और एक अन्यवाप का<sup>3</sup>  
'अर्धमासा' के लिये आलभान करे ।

#### अठारहवें अन्तराल के पशु

एक ऋष्य, एक मयूर और एक सुपर्ण- इन तीन का  
'गन्धार्व' के निमित्त, एक उद्ग जलचर जीव का 'जला' के निमित्त  
और एक कच्छप का 'मासा' के निमित्त आलभान करे । एक राहित,  
एक कुण्डुणाची और एक गोलत्रिका-इन तीन<sup>4</sup> का 'अप्सराओं' के  
निमित्त आलभान करे । एक कृष्णपशु का 'मृत्यु' के लिये, एक मैङ्गी<sup>5</sup>  
का 'श्वतुओं' के लिये और एक-एक आरबुकश और मान्धातु का  
'पितरों' के लिये आलभान करे ।

#### उन्नीसवें अन्तराल के पशु

एक अजगर का 'क्ष' के लिये, एक कपि जल का 'वसुओं' के  
लिये और एक कपात, एक उत्तू एवं एक शश का 'निश्चति' के लिये  
आलभान करे । एक जंगली मेष 'वस्था' के निमित्त, एक श्वेत पशु  
'आदित्यों' के निमित्त एवं एक ऊँट, एक गृणिवान्<sup>6</sup> और एक बाध्निनस-<sup>7</sup>

1. 'जतूः सुशिली का एतौ पक्षिविशेषौ । 'मही. भा. , वही 24/36

2. 'जहका गात्रसंज्ञेयनी । 'वही

3. 'अन्यवापः कोक्लिढ्यः पक्षिविशेषः । 'वही, वा. सं 24/37

4. 'राहित ऋष्यः कुण्डुणाची वनचरीविशेषः गोलत्रिकापि । 'वही.

5. 'आरबुः मूषकः कशः मान्धातुश्च तद्विशेषौ । 'वही 24/38

6. 'गृणिवान् तैजस्वी पशुविशेषः । संहितायां गृणिशब्दो

दीर्घः । 'मही. भा. , वा. सं 24/39 .

7. 'बाध्निनसः कण्ठे स्तनबानजः । 'वही



ये तीन पशु 'मति' के निमित्त समर्पित करे । एक सूसर (गव्य) 'अरण्य' के लिये, एक रुरु 'रुद्र' के लिये और एक ऋषि<sup>1</sup> 'वाजियो' के लिये आलभान करे ।

### बीसवें अन्तराल के पशु

एक कुम्कुट और एक दात्यूह<sup>2</sup> 'वाजिदेवों' के लिये आलभान करे । एक कौयल 'काम' के लिये, एक रवङ्ग 'वैश्वदेव' के लिये और एक काला कुत्ता, एक लम्बे कानों वाला गधा और एक तरङ्ग<sup>3</sup> ये तीन पशु 'राक्षासों' के लिये आलभान करे । एक सूकर 'इन्द्र' के निमित्त एक सिंह 'मस्ता' के निमित्त और एक कृक्लास, एक पिप्पका एवं एक शकुनि- ये तीन पशु 'शरव्याया' के निमित्त समर्पित करे । एक पणत (मृगविशेष) 'विश्वेदेवाओं' के लिये आलभान करे ।

बीस यूपान्तरालों में आलभान किये गये इन दसों साठ आरण्यपशुओं के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है : 'नैतस्य होतव्यम्'<sup>4</sup> अर्थात् उक्त आरण्यपशुओं की वषाओं से यजन नहीं करना चाहिये। आरण्यपशुओं की वषा से यजन न करने के कारणों को स्पष्ट करते हुए ब्राह्मण ने बताया है कि आरण्यपशु वस्तुतः 'अपशु' अर्थात् अपूर्ण पशु होता है । आरण्यपशु के अपशुत्व के सन्दर्भ में हरि-स्वामी का कहना है : 'यान् वा पशून् अपेक्ष्य न्यूनगुण एष स आरण्यः'<sup>5</sup> 'संभावतः ब्राह्मण 'पूर्णत्व' को यजन के लिये आवश्यक धर्म

1. 'ऋषिः पक्षिविशेषः ।' वही

2. 'तरङ्गः मृगादनः ।' उव०भा०, वही, 24/40

3. 'कृक्लासः सरटः पिप्पका पक्षिणी शकुनिः पक्षी ।' मही०भा०, वही

4. श०भा० 13/2/4/3

5. 'अपशुर्वा एष यदारण्यः ।' वही

6. हरि०भा०, वही

समझता है। उस की दृष्टि में आरण्यपशु 'पशुत्व' में पूर्ण नहीं है। ब्राह्मण पशु के किस धर्मविशेष में पूर्णत्व मानता है यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण में ऐसे स्थान भी देखाने को मिलते हैं जहाँ उस ने कुछ ग्राम्यपशुओं को भी 'सम्पूर्ण पशु' मानने से इन्कार किया है।

आरण्यपशुओं की वधाओं से यजन न करने का एक अन्य कारण ब्राह्मण 'अनर्ण' से मुक्ति को मानता है। उस का मत है कि यदि यजमान आरण्यपशुओं से हवन करता है तो उस की शक्ति ही मृत्यु हो जायेगी और ये आरण्यपशु उस के मृत शरीर को जंगल में ले जायेंगे। ब्राह्मण का उक्त कथान संभावतः किसी भी स्थिति में यहाँ तक कि यज्ञ में भी जंगली पशुओं का वधा न करने का संकेत करता है और ऐसा करके वह उन को अपने परिचय पूर्वक समुचित राजसंरक्षण दिलाना चाहता है। उस का कहना है: 'यन्न जुहुयात् यज्ञेशसं स्यात्' <sup>2</sup>। अर्थात् यदि इन आरण्यपशुओं का अश्वमेधा में आलभान नहीं करता तो उस का यज्ञ विनष्ट हो जायेगा। अतः यजमान इन का आलभान तो अवश्य करे किन्तु वधा न करे।

शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्र दोनों ही का कहना है कि इन्हें पर्याग्निकृत कर छोड़ दे <sup>3</sup> इन के चारों ओर प्रज्वलित उत्का रज्जुमा कर मुक्त करदे। यहाँ आचार्य कर्क का स्पष्टीकरण है कि तद्-तद् देवता को लक्ष्य करके नियोगक्रम से इन का उत्सर्ग करे <sup>4</sup>। किन्तु आचार्य

1. 'नैते सर्वे पशवः यदवा वयश्च आरण्याश्च। एते वै

सर्वे पशवः यद्गठ्या इति। 'श० ब्रा० 13/3/2/3'.

2. श० ब्रा० 13/2/4/3

3. (क) 'पर्याग्निकृतानैवात्सृजन्ति।' वही

(ग) 'कपि जलादीनुत्सृजन्ति पर्याग्निकृतान्।' क० आ० सू० 20/6/9

4. 'देवतामुद्दिदृश्यादिदृश्यं नियोगक्रमेणोत्सर्गः।' 'क० भा० 0, वही

कर्क का उक्त स्पष्टीकरण विधि को अनावश्यक रूप में क्लिष्ट बनाता है । वह इसलिये कि 'अमुक देवाय (देवेभ्यः) जुष्टं नियुनज्मि' कह कर पशु को अन्तराल में अवस्थित करने का उल्लेख तो मिलता है<sup>1</sup> किन्तु ब्राह्मण या श्रौतसूत्र का ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता जिस में पशु का उत्सर्ग करते समय नियोग क्रम का अनुवर्तन करने का विधान हो । ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि आरण्यपशुओं को पर्याग्निकृत कर मुक्त कर देने से न तो यजमान का अश्वमेधा विनष्ट होगा और न ये आरण्यपशु बहृत होंगे । यजमान को अनर्धा का भी भय नहीं रहेगा<sup>2</sup> । अतः दो सौ साठ आरण्यपशुओं को आलभान कर उक्त रूप में मुक्त कर दे ।

-----

-----

1. उद्धृत, महीभाट 24/40

2. 'तन्मेव हुत नाहुत । न यजमानमरण्यं मृतं हरन्ति । न यज्ञेशसं भावति ।' शतभाट 13/2/4/3 .

सप्तम-अध्याय

\*\*\*

## अश्वमेधा में अन्नहोम एवं वपादिहोम

### II

#### अन्नहोम -----

शतपथ ब्राह्मण का आख्यान है : प्रजापति ने देवों के लिये यज्ञों का भाग निर्धारण किया । उस ने अश्वमेधा को अपने लिये रखा । देवों ने प्रजापति से कहा- निश्चित ही अश्वमेधा भी एक यज्ञ है । अतः इस में हमारा भी भाग होना चाहिये । प्रजापति ने अश्वमेधा में देवों के निमित्त अन्नहोम की कल्पना की । अथर्व्यु जिस समय अन्नहोम करता है उस समय वह इन देवों को ही प्रसन्न करता है ।

उक्त आख्यान से स्पष्ट है कि अश्वमेधा की प्रथम सुत्या के सायंकाल में 'वसतीवरी अक्षौ' को (संग्रहीत) कर लिये जाने<sup>2</sup> और उन्हें अथर्व्यु के सहायक प्रतिप्रस्थातृ के द्वारा एक पात्र में मिश्रित कर आग्नीध्र में स्थापित कर दिये जाने<sup>3</sup> के बाद समस्त रात्रि चलने वाला<sup>4</sup> 'अन्नहोम' मुख्यस्म से प्रजापति से इतर देवों के लिये है । रात्रिपर्यन्त चलने वाले इस होम में आहुतियों के साथ उच्चरित मन्त्रों को यदि आधार बनाया जाये तो कहा जा सकता है कि उक्त अन्नहोम का सम्बन्ध विशेष रूप से उन देवों से है जो कम (महा-  
X) (हात्म्य) के हैं । हम यह भी कह सकते हैं कि उक्त होम अग्नि, सोम, इन्द्र, वसुधा, विष्णु और विश्वेदेवा आदि देवों, जिन के लिये अश्वमेधा में पृथक् से इष्टि या विशेष आहुतियों का विधान है, से इतर देवों के लिये है । अन्नहोम से सम्बन्धित देवों को हम मूर्तदेवों की

-----  
1. श. ब्रा. 13/2/1/1

2. वही 3/9/2/4; 13/4/1/4; सं०सा०टी०, 20/4/31;

3. वही 3/9/2/17

4. का. आ. सू. 20/4/32.

कोटि का अधिक पाते हैं। जो मंत्र अन्नहोम को सम्पन्न करते समय बोले जाते हैं वे प्राणादि वायु, दिक्, जल, पृथिवी, भौतिक अग्नि आदि 149 देवों से सम्बन्धित हैं<sup>1</sup>। इन मंत्रों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि भौतिक जगत् की कोई भी वस्तु-यहाँ तक कि ओषधि वनस्पति, नदी, पर्वत, कुआँ, बाबड़ी आदि ऐसी नहीं बचता जिसे देवता मान कर यहाँ आहुति न दी गयी हो। अन्नहोम के देवों के सम्बन्ध में उक्त तथ्य इस विचार को दृढ़ करता है कि अश्वमेधा में अन्नहोम का संयोजन उसे सार्वभौमिक प्रदान करने के निमित्त रहा हो सकता है।

अश्वमेधा की प्रथम सुत्या की रात्रि में ही 'अन्नहोम' के सम्पन्न किये जाने का कारण यह है कि आज 'पवित्र जल' (संग्रहीत) किये गये है।<sup>2</sup>

1. वा०स० 22/23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33

2. आचार्य कर्क का निश्चित मत है कि अन्नहोम से पहले (संग्रहीत) होने वाले इन 'वसतीवरी' जलों का संग्रह अश्वमेधा की द्वितीय सुत्या में किया जाता था: 'सर्वमेधा अश्वमेधा के मध्यमे हनि वर्तमाने प्रतिदिश वसतिवरि ग्रहणा प्रवर्तते' (क०भा०, 20/4/31)। किन्तु उन्हें सही नहीं माना जा सकता। प्रथम तो इसलिये कि कात्यायन अन्नहोम की विधियों को (क०श्रौ०सू० 20/4/32/33, 34) पूर्ण करते ही 'उन्ध्य' को सम्पन्न करने (प्रातस्त्रयः, 205/1) का विधान करते हैं, जो मध्यम अह का विधान है। जब मध्यम अह की विधियों का आरम्भ ही वसतीवरी जल और अन्न होम के बाद में हो रहा है तो वसतीवरी जलों का ग्रहण मध्यम दिन में कैसे माना जा सकता है। द्वितीय इस लिये कि मध्यम अह की अश्वसम्बन्धी एक विधि में अश्व को अन्नहोम से बँधे हुए लाज आदि ढालाये जाने का विधान है (क०श्रौ०सू० 20/5/18) यह तभी पूर्ण हो सकता है जब प्रथम सुत्या में वसतीवरी ग्रहण माने और उनके ग्रहण कर लिये जाने के बाद रात्रि में अन्नहोम की विधि को सम्पन्न होने वाला माने। कर्क को सही न मानने में सबसे बड़ा प्रमाण स्वयम् शतपथ है जिस का कहना है: 'संस्थिते ग्निष्टोमे परिहृतासु वसतीवरीषु। अध्वर्युर्अन्नहोमान् जहोति' (श० ब० 13/5/1/4)।

देवता रात्रि में इन जलों में निवास करते हैं। ये देवों के रहने के श्रेष्ठ स्थान हैं संभावतः इसीलिये ये 'वसतीवरी' हैं<sup>1</sup>। अतः वसतीवरी जलों में साक्षात् स्थित देवों को प्रसन्न रहाने और तृप्त करने के लिये आज की रात्रि में अन्नहोम होता है।

शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्र, प्राणाय स्वाहा 'इत्यादि एवं 'एकस्मैस्वाहा' इत्यादि मंत्रों से रात्रि भर देवताओं के लिये आहुति दिये जाने का विधान करते हैं<sup>2</sup>। ब्राह्मण और श्रौतसूत्र दोनों ही के विधानों से यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त अन्नहोम में प्रत्येक देवता के लिये कितनी आहुतियाँ दी जायें। किन्तु अन्नहोम के सन्दर्भ में दो तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हैं : प्रथम तो यह कि आहुतियाँ आज्य, सन्ति, धाना और ताज से ही दी जायें। द्वितीय यह कि आहुतियाँ रात्रि भर दी जायें<sup>3</sup>। अश्वमेध के अन्नहोम के सन्दर्भ में आचार्य कर्क का मत है 'इह च कर्मपरिमाणानवगमात्कालपरिमाणेन कर्मपरिमाण-परिच्छेदः'<sup>4</sup>। 'अर्थात् अन्नहोम के सम्बन्ध में कर्मपरिमाण-सीमा का ज्ञान न होने के कारण कालपरिमाण से ही कर्मपरिमाण का परिच्छेद मान लेना चाहिये। अतः उन के अनुसार आज्य आदि द्रव्यों से 'प्राणायस्वाहा' इत्यादिमन्त्रों के उच्चारण पूर्वक नियतक्रम और पुनः पुनः आचर्तन के साथ समस्त रात्रि होम करना चाहिये<sup>5</sup>।

1. 'एतै वै वसती वरम् तस्माद्वसतीवर्या नाम। वसती ह वै वरं गच्छति य एवमेतद्वेद।' श० ब्रा० 3/9/2/16.

2. (क) श० ब्रा० 13/2/1/2, 3, 4, 5

(ग) का० श्रौ० सू० 20/4/32.

3. 'सर्वशत्रुम्' का० श्रौ० सू० 20/4/32.

4. क भा०, 20/4/32.

5. 'प्राणाय स्वाहा इत्यादि भिमन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् आवर्त्यावृत्य सर्वरात्रम्।' वही.

रात्रि के प्रथम प्रहर में धातु से, द्वितीय में सन्तुज<sup>1</sup> से, तृतीय में धाना से और चतुर्थ में ताज से 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि 149 मंत्रों, 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि 100 मंत्रों एवं 'एकशताय स्वाहा' इस अन्तिम मंत्र से क्रमशः और आवर्तन पूर्वक होम करना चाहिये<sup>1</sup>। कर्क का कहना है एक प्रहर में एक द्रव्य से जितनी आहुतियाँ दी जा सकें उतनी ही दें। वह इस होम में आहुतियों को 'चतुर्मुष्टि' के रूप में ग्रहण करे। एक मुठ्ठी में 1000 चावल आ सकते हैं दूसरी में 1100, तीसरी में 990 और चौथी में 1101। यदि जैसे इन मुठ्ठियों में चावलों की संख्या महत्त्वपूर्ण न होकर 'मुठ्ठी' महत्त्वपूर्ण है वैसे ही अन्नहोम में देव-विशेष या समस्त देवों के लिये आहुतियों की संख्या महत्त्वपूर्ण न होकर प्रहरविशेष के लिये द्रव्यविशेष और आनुपूर्व्य क्रम में पुनः पुनः आवर्तन के साथ हवन करते रहना महत्त्वपूर्ण है<sup>2</sup>।

कात्यायन श्रौतसूत्र पर 'संक्षिप्तसार टीका' के लेखक ने कात्यायन के ही मत को और अधिक पुष्ट करने के दिशा में अपना एक अन्य तर्क देकर रात्रि के चारों प्रहरों में हवन करते रहने की बात कही है। उन का तर्क है 'सर्वरात्रम्' इति द्वितीयाग्रहणात् होम-क्रियाया रात्रेः कात्स्न्येन संयोगः कार्यः<sup>3</sup>। अर्थात् सूत्र में 'सर्वरात्रम्' पद प्रयुक्त हुआ है किन्तु यही अन्नहोम के अतिरिक्त किसी अन्य यज्ञ

1. - वही

2. 'तेन यावन्तौ होमाः प्रहरेण निवर्त्यन्ते तावन्ति प्रतिद्रव्य चतुर्मुष्टिक्वनि ग्राह्याणि।' वही

3. सं सा 0टी, का. श्री 0सू 20/4/32.



के किये जाने का विधान नहीं है। अतः अन्नहोमक्रिया का रात्रि की सम्पूर्णाता से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये और रात्रि के प्रथम प्रहर में आज्य से द्वितीय में सत्तु से, तृतीय में धाना से एवं चतुर्थ में ताज से हवन करना चाहिये।

अन्नहोम में प्रयुक्त होने वाले 'एकस्मै स्वाहा द्वाभ्या स्वाहा शतायस्वाहाैकशतायस्वाहा' इत्यादि मन्त्रों के सन्दर्भ में हरिस्वामी का स्पष्टीकरण है कि 'द्वाभ्या स्वाहा' के बाद 'त्रिभ्यः स्वाहा' 'चतुर्भ्यः स्वाहा' इत्यादि स्म में उस समय तक आहुति देता चला जाय जब तक 'शताय स्वाहा' 'एक शताय स्वाहा' आहुतियाँ न आजायें। 'एक शताय स्वाहा' आहुति के बाद आवर्तित होकर पुनः आहुति देना आरम्भ करे<sup>3</sup>। उनके अनुसार ऐसा संभावित इस लिये करे क्योंकि आचार्य कर्क 'त्रिभ्यः स्वाहा' 'चतुर्भ्यः स्वाहा' इत्यादि को 'लुप्त स्वाध्याय' बताते हैं<sup>4</sup> और इन्हें लुप्त स्वाध्याय मानने में ब्राह्मण के 'अनुपूर्व जुहोति'<sup>5</sup> एकोत्तरा जुहोति<sup>6</sup> 'नैकशतमत्येति'<sup>7</sup> जैसे वाक्य प्रमाण है।

1. 'ततः प्रथमयामे धृत्वेन यागः, द्वितीये सत्तुभिः, तृतीये धानाभिः, चतुर्थे ताजे :।' वही

2. बा. सं. 22/34

3. हरि०भा०, श०भा० 13/2/1/6-7

4. 'इह च 'एकस्मै स्वाहा' 'द्वाभ्या स्वाहा' इत्येवमादी' 'त्रिभ्यः स्वाहा' 'चतुर्भ्यः स्वाहा' इत्येवमादिः लुप्त स्वाध्यायो द्रष्टव्यः।' क०भा० 20/4/32

5. श. भा. 13/2/1/6

6. वही

7. वही, 13/2/1/7.

'एकस्मै स्वाहा' 'द्वाग्या स्वाहा' इत्यादि मंत्रों से किये जाने वाले हवन के सन्दर्भ में संक्षिप्तसारकार का कहना है कि 'त्रिभ्यः स्वाहा' 'चतुर्भ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्र संहिता में अपठित होते हुए भी एक-एक की वृद्धि से युक्त हैं। अतः इन्हें 'शताय स्वाहा' तक प्रयोग में लाना चाहिये।

'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों को व्यवहृत करने के प्रसङ्ग में इगलिंग महोदय के विचार हैं कि ये कुल एक सौ एक आहुतियाँ हैं<sup>2</sup>। ये उस अन्तराल को भरने के लिये हैं जो आज्य, सत्तु, धाना और लाज से किये जाने वाले होम और उषा के उदित होने के बीच में बनता है जबकि अर्धयु को उषा के लिये 'व्युष्ट्ये स्वाहा' मन्त्र से उदित होते ही धाताहुति देनी होती है<sup>3</sup>। अर्धयु इन आहुतियों को सीधे ही देता है<sup>4</sup>। जब एक सौ एक आहुतियाँ पूर्ण हो जाती हैं तो वह न तो इन में से किसी को आवृत करता है और न इन्हें पुनः 'एकस्मै स्वाहा' से आरम्भ ही करता है<sup>5</sup>।

इगलिंग के उक्त विचार 'अन्नहोम' के सन्दर्भ में कुछ नयी समस्याओं को जन्म देते हैं। उन्होंने 'एक सौ एक' आहुतियाँ<sup>6</sup> देने की बात कही। किन्तु शतपथ का निर्देश है 'नैकशतमत्येति'<sup>7</sup>। उन्होंने कहा कि 'एकस्मै स्वाहा' आदि 'अन्तराल को भरने' के लिये हैं। किन्तु स्वयम् शतपथ और कात्यायन श्रौतसूत्र ऐसे किसी भी अन्तराल के बनने का संकेत नहीं करते जिसे इगलिंग 'एकस्मै स्वाहा' आदि से

1- 'इत्येवमादयो मन्त्रा अपठितापि एकैकाच्चयेन शतपर्यन्ताः प्रयोज्या  
'एकैत्तरा जुहोति' इति श्रुतेः। 'संसा० टी०, का. श्रौ. सू० 20/4/32

2- देखें, इगलिंग, शतपथ ब्रह्मण भाग 5, पृ० 297, टि. सं. 1. सैक्रिड बुक्स आफ ईस्ट सीरीज.

3- वही

4- इगलिंग अंग्रेजी अनुवाद, श. ब्रा. 13/2/1/5

5- देखें, इगलिंग, श. ब्रा. 0, भा० 5, पृ० 297, टि. सं. 3 (सं. बु. आ. ई. सी.)

6- श. ब्रा. 13/2/1/6.

7- 'दु पित् अप द टाइम टिल डाउन, मैन द अर्धयु मेक्स एन आक्लेशन  
आफ धी टु द डाउन' इगलिंग, श. प० भा० 5, पृ० 297

भारना चाहते हैं। केवल इतना ही नहीं, शतपथा का 'अनुपूर्व जुहोति'<sup>1</sup> विधान ऐसे किसी अन्तराल के बन पाने की संभावना को भी सर्वथा निर्मूल बनाता है। इगलिंग ने कहा कि किसी मंत्र विशेष या इन समस्त मन्त्रों की पुनरावृत्ति न करें<sup>2</sup>। किन्तु ब्राह्मण में वाक्य आते हैं : 'पराची जुहोति'<sup>3</sup> 'यः पराची जुहोति नैक शतमत्येति'<sup>4</sup>। इन वाक्यों में 'एकस्मै स्वाहा' आदि की पुनः पुनः आवृत्ति का विधान है।

मूलतः ऐसा है कि 'अन्नहोम' के सन्दर्भ में विहित 'एकस्मै स्वाहा' आदि का समझने में इगलिंग से कई भूलें हुई हैं। उन की सबसे पहली भूल तो यही है कि उन्होंने 'एकशतम्' पद को ठीक नहीं समझा। वे 'एकशतम्' का अनुवाद 'एक सौ एक' करते हैं जो उचित नहीं है। 'एकशतम्' का सही अनुवाद 'एक सौ' है। इगलिंग ने ब्राह्मण के 'आत्मैकशतः' वाक्य का अनुवाद करते हुए कहा : 'हिज अगेन सैल्फ इज वन हन्ड्रेड ऐन्ड फर्स्ट'। किन्तु उद्धृत ब्राह्मण वाक्य का इगलिंग द्वारा किया गया उक्त अनुवाद सही नहीं है। इस का सही अनुवाद है : आत्मा सौवा है-अर्थात् पूर्णसंख्य है। यहाँ ब्राह्मण का प्रतिपादन है कि अश्वमेधा का यजमान 'एकस्मै स्वाहा' आदि सौ मन्त्रों से पूर्णसंख्य अपने आत्मा को पूर्ण आयु- 'सौ' में प्रतिष्ठित करता है<sup>6</sup>।

यदि यह कहा जाय कि 'शताय स्वाहा' के साथ जब सौ आहुतियाँ पूरी हो गयीं तो 'एकशताय स्वाहा' से दी जाने वाली

1- श. ब्रा. 13/2/1/5

2- 'डेट इज टु सै, बिदाउट रिपीटिंग एनी फारमूला, आर कमेन्सिंग अगेन प्रेम द क्रिनिंग, भौन द हात सीरीज इज एग्जॉस्टेड' 'इगलिंग, श. ब्रा. , भा 05, पृ 0297

3- श. ब्रा. 13/2/1/5

4- वही 13/2/1/6

5- 'ही आफर्स अ हन्ड्रेड एण्ड वन' अनुवाद, श. ब्रा. 13/2/1/6

6- 'एकशतं जुहोति । शतायुर्व पुरुषः । आत्मैकशतः । आयुष्यवा-  
त्मन्प्रतिष्ठति ।' श. ब्रा. 13/2/1/6 .

आहुति एक सौ एक बी ही है, अतः इगलिंग भी सही है; तो इस के उत्तर में समझना होगा कि 'नैकशत मत्येति' वाक्य में ब्रह्मण का निषेधा 'सौ' की संख्या का अतिक्रमण करने में है 'एक शताय स्वाहा' आहुतिविशेष का निषेधा करने में नहीं, क्योंकि 'एकशताय स्वाहा' आहुति का विधान तो स्वयम् उसी का है। अतः 'शताय स्वाहा' तक की आहुति देने के बाद 'एक शताय स्वाहा' से सरणि की अंतिम आहुति दे और इस के बाद आवर्तित होवे।

इगलिंग 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि आहुतियों को अन्तराल को भरने के लिये आयी मानते हैं। उन के ऐसा मानने से यह भी स्पष्ट है कि वे इन्हें 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि आहुतियों से पूर्ण पृथक् मानते हैं। वे 'प्राणाय स्वाहा' आदि से रात्रि के चारों प्रहरों में हवन करने के पक्ष में हैं<sup>1</sup> और इन्हें आवर्तित करने के पक्ष में भी,<sup>2</sup> किन्तु वे 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि से रात्रि के चारों प्रहरों में न हवन करने के पक्ष में हैं और न इन्हें पुनरावृत्त करने के पक्ष में<sup>3</sup>।

किन्तु न तो 'प्राणाय स्वाहा' और 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि को पूर्ण पृथक् मानना उचित है और न 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि को पुनरावृत्ति रहित मानना ही। 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि को पहले दूसरे तीसरे रात्रि प्रहरों में प्रयुक्त न होने वाला मानना और चौथों प्रहर के अवशिष्ट भाग और उषा उदित होने के पहले के अन्तराल में ही इन के दिये जाने को उचित ठहराना भी सही नहीं है। यह सब सही इसलिये नहीं है कि ब्रह्मण पहले 'वाज्य' 'सत्सु' 'धाना' और 'ताज'-इन चार द्रव्यों का पृथक्-पृथक् विधान करता है<sup>4</sup> और बाद

1. इगलिंग श. ब्रा. भा. 05, पृ. 297, पा. टि. सं. 1.

2. वही

3. वही

4. श. ब्रा. 13/2/1/2-5.

में समान स्म से 'प्राणाय स्वाहा' आदि और 'एकस्मै स्वाहा' आदि आहुतियों का विधान करता है<sup>1</sup>। अतः हम 'विशेष द्रव्यविधानों' के बाद 'सहविधि' के स्म में आने वाली इन दोनों ही कार्यों की आहुतियों को रात्रि के प्रत्येक प्रहर में साधा-साधा करने वाली आहुतियों के स्म में ग्रहण कर सकते हैं। 'प्राणाय स्वाहा' आदि की चारों प्रहरों में आवृत्ति इगलिंग को स्वीकार्य है<sup>2</sup>। अतः 'सहविधि' होने के कारण 'एकस्मै स्वाहा' आदि की प्रथम आदि प्रहरों में स्थिति और आवृत्ति भी उन्हें स्वीकार्य होनी चाहिये। इगलिंग रात्रि के चार समान प्रहरों में बंटी होने के पक्ष में है<sup>3</sup>। तब उन के मत में चतुर्थ प्रहर में ही 'अन्तरात' क्यों बनता है? यदि इस अन्तरात की संभावना को किसी प्रकार मान भी लें तो एक स्थिति ऐसी भी हो सकती है जिस में 'एकस्मै स्वाहा' से 'एक शताय स्वाहा' तक की आहुतियाँ उक्त अन्तरात में पूरी न हो सकती हों। किन्तु यह स्थिति ब्रह्मण को तो कदापि स्वीकार्य नहीं होगी। एक तथ्य यह भी है कि 'एकस्मै-स्वाहा' इत्यादि की अपुनरावृत्ति को ही इगलिंग यदि ब्रह्मण का प्रतिपाद्य मानते हैं तो वे 'ईश्वरा वा एष पराङ् प्रदधातः क परावीराहुतीर्जुहोति'<sup>4</sup> इस ब्रह्मण वाक्य का 'बट, बेरीली, ही हू औप्स द आक्लेशन स्ट्रेट अवे, इज लाएविस टू फात राइट अवे'<sup>5</sup>

1- 'प्राणाय स्वाहा पानाय स्वाहा' इति वामगाहं जुहोति नाम ग्राह-  
मेवेनास्तत्प्रीणाति। 'एकस्मै स्वाहा द्वाभ्या स्वाहा शताय  
स्वाहैकशताय स्वाहा' इत्यनुपूर्वं जुहोति। 'वही, 13/2/1/5

2- इगलिंग, श. भा., भा० 5, पृ० 297, पा० टि० सं० 1

3- वही

4- श. भा. 13/2/1/6

5- अनुवाद, इगलिंग, वही.

ऐसा अनुवाद क्यों करते हैं जिस अर्थ है जो सीधे-बिना परिवर्तित हुए आहुति देता है वह निश्चित ही विनाश को प्राप्त होता है । सब तो यह है कि यदि इगलिंग महोदय का उक्त अनुवाद सही मान लिया जाये तो वे अपने प्रतिपादन का स्वयं छाण्डन तो करेंगे ही ब्रह्मण के 'पराचीः जुहोति । पराङ् इव वे स्वर्गां लोक । और 'ईश्वरा वा एष पराङ् प्रदधाः । यः पराचीराहुतीर्जुहोति <sup>2</sup> । इन दोनों कथनों को परस्पर विरोधी भी सिद्धा करेंगे, जिसे स्वीकार कर पाना किसी के लिये संभव नहीं होगा ।

यथार्थ यह है कि इगलिंग यहाँ न तो 'पराचीः' 'पद' को ठीक रूप में समझ सके हैं और न उन दो कल्पों को जिनका उल्लेख ब्रह्मण को यहाँ अभीष्ट है । 'पराचीः' को स्पष्ट करते हुए हरि-स्वामी ने कहा है : 'पराचीः वृत्ता<sup>3</sup>-अर्थात् 'पराचीः' का अभि-धीय है 'आवृत्त होना' अथर्व्यु 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि मन्त्रों को आवृत्त कर-कर के समस्त रात्रि हवन करे । 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि को आवृत्त कर-कर के हवन करना अन्नहोम के सन्दर्भ में ब्रह्मण का 'एक कल्प' है । इसी के सन्दर्भ में उस का विशेष कथन है : 'जो आहुतियों को आवृत्त कर-कर के हवन करता है वह 'एक सौ' की संख्या का अतिक्रमण नहीं करता । यदि वह 'एक सौ' की संख्या का अतिक्रमण करता है तो यजमान की आयु को क्षीण करता है । (अतः केवल) 'एक सौ' तक हवन करे । व्यक्ति सौ वर्ष की आयु का है । आत्मा सौवा है । ( इन एक सौ आहुतियों के माध्यम से सौ वे अपने) आत्मा को (पूर्ण) आयु (एक सौ) में स्थापित करता है । <sup>4</sup> ।

1. श. ब्रा. 13/2/1/5

2. वही 13/2/1/6

3. हरिः भा. 13/12/1/5

4. 'यः पराचीराहुतीर्जुहोति । नैकशतमत्येति । यदेकशतमतीयात् । आयुषा यजमान व्यर्ध्यायेत् । एकशत जुहोति । शतायुर्वै पुरुषः । आत्मैकशतम् । आयुष्येवात्मन्प्रतिष्ठिति । श. ब्रा. 13/2/1/6 .

'एकोत्तरा जुहोति'<sup>1</sup> अन्नक्षेम के सन्दर्भ में ब्राह्मण का दूसरा कल्प है। इस को स्पष्ट करते हुए हरिस्वामी ने कहा है: जिन आहुतियों में एक-एक देव उत्तर द्रष्टव्य है-एक के बाद एक देवता आता जाता है वे आहुतियाँ 'एकोत्तराः' हुईं। 'जुहोति' अंश विधि है।<sup>2</sup> हरिस्वामी यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं कि 'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि वर्ग की आहुतियों में एक-एक कर के आगे बढ़ता जाये। इस दिवतीय कल्प के सन्दर्भ में ब्राह्मण का सैद्धान्तिक आधार है: 'एकवृद्धो स्वर्गं लोकः। एकधौवेन स्वर्गं लोकं गमयति।'<sup>3</sup>

किन्तु श्रौतसूत्रकार कात्यायन ब्राह्मण के उक्त दिवतीय कल्प को महत्व न देकर 'सर्वरात्रमावर्तम्'<sup>4</sup> अपने इस सूत्रांश से ब्राह्मण के प्रथम कल्प-आवृत्तिपरक को ही वरीयता देते हैं। हरिस्वामी ने भी 'दिवश-ताप चतुःशताय स्वाहेत्यादिका इति हेयं कल्पः।'<sup>5</sup> कह कर इसे व्यवहार के लिये उचित नहीं माना है और 'नैकशतमतिक्रामतीति स्थिति कल्पः'<sup>6</sup> कह कर ब्राह्मण के आवृत्तिपरक कल्प को ही उचित ठहराया है। हरिस्वामी और कात्यायन इन दोनों ने ही ब्राह्मण के आवृत्तिपरक कल्प को ही उचित संभावक इसलिये माना है क्योंकि ब्राह्मण में 'विधि' से निषेधाप्रवृत्त होता है और 'नैकशतमत्येति' ब्राह्मण का निषेधावाक्य है। अतः यही मानना उचित है कि अध्वर्यु 'प्राणाय स्वाहा' एवं

1. श. ब्रा. 13/2/15

2. 'एकैक उत्तरद्रष्टव्यो देवो या स्वाहुतिषु ता एकोत्तरा आहुती जुहोतीति विधिः।' हरिभा. 13/2/1/5.

3. श. ब्रा. वही

4. क. श्रौ. सू. 20/4/32.

5. हरि. भा. 13/2/1/5

6. वही 13/2/1/6.

'एकस्मै स्वाहा' इत्यादि आहुतियों को प्रत्येक प्रहर में अनुक्रम में, आवृत्त कर-कर के हवन करता जाये और निश्चित समय में जितने हवन हो सकें उतने करे । वह सूर्य के उदित होने से ठीक पहले 'व्युष्ट्यै स्वाहा' से रात्रि के लिये आहुति दे एवं सूर्य के उदित हो जाने पर सब से अन्त में 'स्वर्गाय स्वाहा' मंत्र से दिन के लिये आहुति दे<sup>1</sup> ।

### प्रतीकात्मकता

'अन्नहोम' के लिये ब्राह्मण श्रौतसूत्र ने आज्य, सत्तु धाना और लाज- इन चार द्रव्यों का विधान किया और व्यवस्था दी कि इन से क्रमशः रात्रि के प्रत्येक प्रहर में देवों के निमित्त यजन करे<sup>2</sup> । यहाँ आज्य को रात्रि के प्रथम प्रहर में हवन करने के लिये चुना गया । संभाव्य है कि धृत देवताओं को सर्वाधिक प्रिय है । प्रथम प्रहर में धृत को ही आहुतियों का साधन बनाने के लिये चयन करने में एक अन्य हेतु यह भी रहा हो सकता है कि शतपथ अनेक स्थानों पर<sup>4</sup> और प्रस्तुत स्थान में भी<sup>5</sup> धृत को 'तेज' कहता है । अन्य ग्रन्थों में भी 'आयुर्धृतम्' 'आयुरेवेदम्' जैसे वाक्य देखाने को मिलते हैं । अतः 'आज्य' से आहुति देताकर वह देवों को सर्व प्रथम तेज सम्पन्न' या 'आयु सम्पन्न' कराना चाहता है और देवों को तेज या आयु सम्पन्न कराने में यजमान के भी तेज या आयु से सम्पन्न होने की भावना रहता है ।

1. श. ब्रा. 13/2/1/7

2. श. ब्रा. 13/2/1/2-5; क. श्रौ. सू. 20/4/32 .

3. 'तद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यम् ।' श. ब्रा. 13/2/1/2

4. श. ब्रा. 13/1/1/1, आदि

5. 'तेजो वा आज्यम्' 21. ब्रा. 13/2/1/2

6. क. 0 प्र वि टी 0, पृ 0 65 .



सत्त्वों के आहुतियों के साधन के रूप में प्रयुक्त करने का विधान रात्रि के द्वितीय प्रहर के लिये है । इसके पीछे भावना रही हो सकती है कि आज्याहुतियों से तेज या वीर्य सम्पन्न हुए सभी देव परस्पर सहयोग से रहें। एक दूसरे से पृथक् न हो जायें, क्योंकि तेज या वीर्य सम्पन्नों का एक दूसरे का विरोधी होना ही लोक व्यवहार का यथार्थ है । जिस प्रकार सत्त्वों में अन्न का एक दूसरे से संयुक्त रहता है, प्रयास करने पर भी उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार तेज सम्पन्न, वीर्यसम्पन्न बनें ये सभी देव परस्पर सहयोग और सद्भाव रखाते हुए यजमान का हितसंवर्धन करें । यदि एक देव इस का हित करना चाहे तो दूसरा उस का विरोधा न करे, अपितु सहयोग ही करे । देवों के परस्पर सद्भाव और सहस्थिति में ही यजमान का हित सुरक्षित है । संभावित इसीलिये अथर्व्यु द्वितीय प्रहर में 'सद्भाव और सहयोग' के प्रतीक इन सत्त्वों से तेज सम्पन्न देवों के आहुति देता है ।

रात्रि के तृतीय प्रहर में धाना के आहुतियों का साधन बनाने का विधान है । इस के मूल में भावना रही हो सकती है कि तेजसम्पन्न और परस्पर सहयोग से युक्त देवता यजमान का 'दिन-रात' हित संवर्धन करें क्योंकि ब्रह्मण का कथन है धाना दिन और रात का स्वस्म है । ब्रह्मण की दृष्टि में धाना दिन और रात का

1. 'द्वितीय सत्त्वभिः' क भा. , 20/4/32

2. 'तृतीय धानाभिः' । वही

3. 'अक्षरान्तराणां वा एतद्रूपं यद्धाना' । 'श. भा. 13/2/1/4

स्वल्प संभावतः इसलिये है कि इन में श्वेत मींग गहरे छिन्न से आकृत रहती है । 'मींग' दिन को प्रतीकायित करने में और 'छिन्न' रात को प्रतीकायित करने में सक्षम है । दिन और रात का संयुक्त रूप काल है । अतः धाना की मींग और छिन्न स्वतंत्र रूप में दिन और रात को प्रतीकायित करके संयुक्त रूप में 'काल' को भी प्रतीकायित कर सकते हैं । अतः कहा जा सकता है कि ब्राह्मण रात्रि के तृतीय प्रहर में अर्घ्य को धाना से आहुति देने का विधान करके यजमान को दिन-रात के साध या यों कहें 'काल' के साध सम्बद्ध करा देना चाहता है जिस प्रकार काल अनन्त है उसी प्रकार यजमान और उस का हित भी, धाना से सम्पन्न होने वाले इस अन्नहोम से, अनन्त हो जाये ।

चतुर्धा और अन्तिम प्रहर में 'लाजाः' से आहुति देने का विधान है । ब्राह्मण के अनुसार लाज नक्षत्रों का रूप है । जैसे नक्षत्र सदैव चमकते रहते हैं उसी प्रकार 'तेजसम्पन्न' 'परस्पर सहयोग युक्त' एवं 'कालगति से अबाधित' बने ये सभी देव दिविस्था हों एवं सदैव सुशोभित होते रहें और प्रस्तुत लाजाहुतियाँ से यजमान भी इन्हें प्रसन्न कर स्वयम नक्षत्ररूप हो इन्हीं में मिल जाय- इस प्रकार की ब्राह्मण की भावना चतुर्धा प्रहर में दी जाने वाली लाजाहुतियों के मूल में रही हो सकती है ।

ब्राह्मण का वाक्य है: यदुभौ दिवा वा नक्तवा जुहुयात्  
अहोरात्रे मोहयेत् । इस में कहा गया है कि यदि दिन और रात-दोनों

1. 'चतुर्धा लाजेः' क भा. ,20/4/32 .

2. 'नक्षत्राणां वा एतद्रूपं फललाजाः' । 'श. भा. 13/2/1/5

3. श. भा. 13/2/1/7 .

में अन्नहोम करके दिन-रात के विभाग को नष्ट न करे, उन्हें एक दूसरे में मिलने न दे । यहाँ कहा जा सकता है कि रात्रि के तृतीय प्रहर में धानों की आहुतियों से दिन-रात को प्रतीकायित कर ब्राह्मण ने यजमान और उस के हितों की अनन्तता को प्रतीकायित करने के प्रसङ्ग में दिन-रात का 'काल' रूप में अविभाग भी तात् स्वीकार किया है, जिस का उल्लेख ऊपर हुआ है । इस के उत्तर में सम्झना होगा कि ब्राह्मण की दृष्टि में 'स्वर्ग प्राप्ति' या 'देवत्व' से पहले यजमान के जीवन काल में उस के लिये समय का दिन-रात रूप विभाग आवश्यक है । संभावतः इसीलिये ब्राह्मण का विधान है कि दिन और रात दोनों में अन्नहोम न करे - दिन और रात के विभाग को नष्ट न करे । उस का निर्देश है कि यजमान के जीवन-काल में दिन-रात का अविभाग बनाये रखने के लिये ही 'अन्नहोम' में सूर्य के अनुदित रहते 'व्यष्ट्यै स्वाहा' से धृताहुति दे और सूर्य के उदित हो जाने पर 'स्वर्गाय स्वाहा' से धृताहुति देकर अन्नहोम को पूर्ण कर दे ।

---

।- ' व्यष्ट्यै स्वाहेत्यमुदित आदित्ये जुहोति । स्वर्गाय स्वाहेत्युदिते ।  
अहो रात्रयोरव्यतिमोहाय । ' बही .

इटसूनाः

अश्वमेधा के द्वितीय सुत्यादिवस में पशुवातमान के बाद आरण्यपशुओं को पर्याग्निकृत कर मुक्त कर देने पर होम के निमित्त वपा, रक्त आदि प्राप्त करने के लिये समस्त अश्वदि ग्राम्यपशुओं का संज्ञापन (बधा) होता था। अश्व का संज्ञापन एक विशेष विधि<sup>1</sup> के साथ वेतस की चटाई के ऊपर और अन्य पशुओं का प्लक्षा की शा-  
लाओं से बनी चटाई के ऊपर किया जाता था<sup>2</sup>। किन्तु वेतसकटे प्राजापत्यान्त्सि चनोति<sup>3</sup> इस शाखान्तर से प्राप्त विधान के मत पर और 'वेतसशाखान्तसु प्राजापत्यान्<sup>4</sup> इस कात्यायन सूत्र के आधार पर 'तूपर' 'गौमृग' और 'अश्वान्तपशुओं' का भी संज्ञापन वेतस की चटाई पर किया जा सकता है; क्योंकि तूपर और गौमृग को तो सहिता ने ही प्राजापत्यपशु माना है<sup>5</sup> एवं अश्व के अङ्गों पर बंधे पशुओं को अश्व में आलभान होने के कारण प्राजापत्य माना जा सकता है।

1. (1.) अश्व की संज्ञापन विधि और उसकी प्रतीकात्मकता शां. प्र. पृ. --- से --- तक में वर्णित है।

2- (क) 'प्लक्षाशारवास्वव्येषा पशूनामवदयन्ति । वेतसशारवास्व-  
श्वस्य ।' शा. ब्र. 13/5/3/8 .

(ख) 'अथा पदवेतस इटसूने ।' वही 13/2/2/19

3- अद्धात, क०भा०, का०श्री०सूत्र 20/8/3

4- का०श्री०सू० 20/8/2

5- 'अश्वस्तूपरो गौमृगस्ते प्राजापत्याः'

वा. सं. 24/1 .

### प्रतीकात्मकताः

अश्व या समस्त प्राजापत्य पशुओं का वेतस के कट पर ही संज्ञपन क्यों किया जाय, इसे स्पष्ट करने के प्रसङ्ग में ब्राह्मण का कहना है : 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः । अप्सुजावेतसः ।' ब्राह्मण अश्व को जलों से उत्पन्न संभावित इसलिये मानता है क्योंकि अश्वमेधा का अश्व उसकी दृष्टि में बहुत से देवों के साथ-साथ सूर्य का भी प्रतीक है ।<sup>2</sup> सागर के तट पर प्रातः काल का सूर्य जलों से उत्पन्न होता हुआ सा दिखायी देता है संभावित इसलिये ब्राह्मण अश्व को 'अप्सुयोनिः' कहता है । अश्व 'अप्सुयोनिः' इसलिये भी हो सकता है क्योंकि अश्वों में सर्वश्रेष्ठ अश्व ('भूरिश्रवा') का उत्पत्ति स्थान सागर है । वेतस- - नरकुल या पट्टे जलों में उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं । अतः अप्सुयोनि 'अश्व' का एक दूसरे अप्सुयोनि 'वेतस' के ऊपर संज्ञपन कराके ब्राह्मण सजातियों को समृद्ध करना चाहता है<sup>3</sup> ।

### शासः

चटाई पर पशुओं का उक्त संज्ञपन करने के लिये परशु या कुल्हाड़ी जैसे किसी अस्त्र की आवश्यकता होती थी । ब्राह्मण का कहना है : 'हिरण्यमयो श्वस्य शासो भावति । लोहमयाः पर्यग्याणाम् । आयसा इतरेषाम् ।' ब्राह्मण जिस अस्त्र को 'शास' कहता है कात्यायन उसे

1. श. ब्रा. 13/2/2/19

2.

3- ब्राह्मण और श्रौतसूत्र दोनों से ही यह स्पष्ट नहीं होता है कि अन्य पशुओं का संज्ञपन प्लक्षा शाखाओं पर ही क्यों किया जाय ।

4. श. ब्रा. 13/2/2/16 .

उसे स्पष्ट शब्दों में 'असि' कहते हैं<sup>1</sup>। हरिस्वामी का स्वर्णादि के उक्त शासों के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण है कि 'अश्व' और 'पर्यग्य पशुओं' को संज्ञपन करने के लिये जिन 'स्वस्वों' का प्रयोग करे वे क्रमशः सोने और ताँबे<sup>2</sup> के विकार न होकर 'तत्परिष्कृत' होने चाहिये। क्योंकि उन के श्रृंखला सोने और ताँबे के विकार होने पर विशासन कार्य सम्भाव नहीं हो सकेगा<sup>3</sup>। विशासन में प्रयुक्त होने वाली उक्त दोनों तत्ववारों के सन्दर्भ में आचार्य देवयानिक के विचार भी इसी प्रकार के हैं।<sup>4</sup> शासों के 'तत्परिष्कृत' होने का अभिप्राय उन की मूठ आदि पर सोना और ताँबा लगा होने से हो सकता है। 'रोहितादि' अन्य पशुओं के शास के सन्दर्भ<sup>5</sup> में कुछ भी 'विशिष्ट' नहीं है। वह 'अयस' का विकार होता था।

#### प्रतीकात्मकता:

अश्व के शास को स्वर्ण युक्त ही रखने के हेतु को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मण ने कहा है: 'क्षात्रं वा अश्वः। शत्रस्येतद् स्मम् यद्दहिरण्यम्। क्षात्रमेव तत्क्षात्रेण समदर्शयति।'<sup>6</sup> ब्रह्मण की दृष्टि में अश्व 'क्षात्रिय' इसलिये हो सकता है क्योंकि वह क्षात्रियों का श्रेष्ठ सहायक है। वह युद्ध आदि क्षात्रिय के कार्यों में उस का सहायक

1. 'सौवर्णादिरश्वस्य।' का०श्री०सू० 20/7/3.

2. वैदिक काल में 'लोह' शब्द वर्तमान लोहे का वाची न होकर ताँबे का वाची था।

3. हरि०भा०, श. अ. 13/2/2/16.

4. देव०पा०टी०, का०श्री० सू० 20/7/3, 4.

5. 'आय सा इतरेषाम्।' का०श्री०सू० 20/7/5.

6. श०भा० 13/2/2/17.

बनता है 'हिरण्य'कात्रिय इक्षितिये हो सकता है क्योंकि वह तेज से युक्त होता है, जो कि कात्रियों का प्राण प्रदधर्म है । अतः ब्राह्मण सौने से युक्त शास के द्वारा अश्व के विशसन का विधान करके सजातीयों को समृद्ध करना चाहता है । अश्व के शास को स्वर्ण-युक्त ही रखने का एक अन्य कारण ब्राह्मण ने हिरण्य के ज्योति-युक्त होने और राष्ट्र के अश्वमेधा रूप होने में देखा है । अतः स्वर्ण-युक्त शास से अश्व का संज्ञपन कराने में वह राष्ट्र के ज्योति सम्पन्न होने की भावना रखाता है । यजमान अश्व का स्वर्णयुक्त शास से विशसन होने पर स्वयम् शरीर त्याग करते समय स्वर्ण ज्योति से युक्त होकर स्वर्ग को जाता है<sup>2</sup> । इसलिये भी अध्वर्यु अश्वमेधा में स्वर्णयुक्त शास से ही अश्व का संज्ञपन करता है<sup>3</sup> ।

पर्यग्यपशुओं के शास को तांबे का ही रखने में मूल भावना यह है कि ब्राह्मण की दृष्टि में 'अश्व' राजा स्थानीय है, 'तूपर' एवं 'गौमृग' अराजा- मन्त्री, पुरोहित आदि स्थानीय हैं और अश्व के अङ्गों पर बंधे बारह पशु राजकत-सूत, ग्रामणी

1. 'ज्योतिर्वै हिरण्यम् । राष्ट्रमश्वमेधा । 'वही । 3/2/2/16 .

2. 'अथा हिरण्यज्योतिषीव यजमानः स्वर्ग लोकमेति । अथा अनुकाशमेव तं कुस्ते । 'वही

3. वाजसनेयिसंहिता के एक मंत्र ( 25/41 ) में अश्व का बधा करने के लिये 34 वक्ती स्वधितियों का प्रयोग होने का उल्लेख है । ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र इस मंत्र का विधान व्याजाहुतियों के समय ही दी जाने वाली कुछ आज्य आहुतियों के सम्बन्ध में करते हैं। किन्तु ऐसी संभावना भी बनती है कि अश्व का बधा करते समय सौने से मढ़ी मूठों वाली 34 तलवारें ही प्रयोग में लायी जाती हो ।

आदि स्थानीय जिस प्रकार राजा 'अराजा' और 'राजकृत' से युक्त होकर ही शासन करने में समर्थ होता है, ये राज्यकार्य में उस के सहायक बनते हैं उसी प्रकार स्वर्ण ताम्र से युक्त होकर ही आभूषणों के योग्य होता है। जैसे राजा के साथ मंत्री पुरोहित, सेनापति, सूत, ग्रामणी आदि का मेल उचित है उसी प्रकार स्वर्ण का ताँबे के साथ मेल उचित है। ब्राह्मण ऊपर अश्व को स्वर्णवाची बता चुका है। प्रस्तुत में वह पर्यग्यों को अश्व की तुलना में ताँबा वाची बताना चाहता है<sup>2</sup>। इसीलिये उसका विधान है कि पर्यग्य-पशुओं के विशसन के लिये ताँबे के शास का प्रयोग करे।

रोहितादि अन्य पशुओं का विशसन करने के लिये ताँबे के शास का विधान है। ब्राह्मण की दृष्टि में ये पशु प्रजा का स्म हैं<sup>3</sup>। विश या प्रजा अनेक होती है और अनेक प्रकार के छोटे-बड़े कार्य करती है। अतः राजा, महामात्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, आदि की अपेक्षा वह महत्व में छोटी होती है। अतः स्वर्ण ताँबा स्थानीय इन राजा और राज-अधिकारियों की अपेक्षा लोहा ही है। रोहितादि पशु भी अनेक हैं और विभिन्न जातियाँ एवं विभिन्न स्वस्मों के हैं। अतः अश्व आदि की तुलना में ये निश्चित ही महत्व में अल्प हैं। इसीलिये इन के विशसन में अयस के शास का विधान है।

1. 'यथा वै राज्ञो राजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः।'।

श. ब्रा. 13/2/2/18

2. 'एव वा एते श्वस्य यत्पर्यग्याः। एवं उ वा एतद्विहरण्यस्य यत्ताँहम्।' वही.

3. 'विद्वान् इतरे पशवः।' वही 13/2/2/19.



### असिपथाः

वैतस कट पर अश्व का संज्ञपन कर दिये जाने के बाद और वपाहोम के निमित्त उस के उदर से विशसन पूर्वक मूद निकालने से पहले अश्व के शरीर में राजा की महिषी आदि तीन पत्नियाँ के द्वारा सुइयाँ गाड़ने का विधान है<sup>1</sup>। संहिता के अनुसार ये सुइयाँ चाँदी, सोने और सीसा (जिंक) की होनी चाहिये<sup>2</sup>। ब्राह्मण के अनुसार ये ताँबे, चाँदी और सोने की होनी चाहिये<sup>3</sup>। कात्यायन के अनुसार ये दोनों ही मत सही हैं<sup>4</sup>। कात्यायन के विधान के अनुसार प्रत्येक पत्नी केवल 100 सुइयाँ अश्व के शरीर में गाड़े और कुल 300 सुइयाँ गाड़ी जायें<sup>5</sup>। किन्तु महीधार और संहिताप्रसार टीका<sup>6</sup> के लेखक के मत में प्रत्येक पत्नी 101 सुइयाँ गाड़े और कुल 303 सुइयाँ अश्व के शरीर में गाड़ी जायें। यहाँ महीधार आदि का मत सही नहीं लगता। उन्हें सही न मानने का कारण यह है कि सुइयों का गाड़ने का विधान करने वाले सूत्र में 'मणिसंख्याभिः'<sup>7</sup> पद प्रयुक्त हुआ है और कात्यायन ने अश्व के 'कैसर' और 'पुच्छ' में महिषी, वाचाता और परिवृत्ता के द्वारा मात्र सौ-सौ मणियाँ का ही पिराने का विधान किया है<sup>8</sup>। अतः यहाँ कुल 300 सुइयों का प्रयोग मानना ही उचित है। शतपथा ब्राह्मण स्वर्ण आदि निर्मित इन सुइयों को 'असिपथा' कहता है।<sup>9</sup>

1. का. श्रौ. सू. 20/7/1।

2. बा. सं. 23/37

3. 'लोहमय्यो रजता हरिण्यः ।' श. ब्रा. 13/2/10/3

4. 'का. श्रौ. सू. 20/7/1; 20/7/2 .

5. 'प्रत्येकमेकधिकशत संख्यानि ।' म० भा०, बा. सं. 23/33

6-ताम्ररजत सुवर्णमयीभिः । प्रत्येक मेकाधिकशत संख्याभिः ।'

7. 'सूचीभिलाहिराजत सौवर्णीभिमणि संख्याभिः ।' का. श्रौ. सू. 20/7/1

8. 'अभश्यमानान्मणिन्सौवर्णानिकशतमेकशतम्' वही 20/5/16

9. 'असिपथान् कल्पयन्ति ।' श. ब्रा. 13/2/10/1 .

अर्थात् ये सुइयाँ अश्व के शरीर में लगने वाली तलवारों के मार्ग हैं । महीधार ने इन्हें 'असिपथार्था त्वग्भेदन संस्कारः' । 'कहकर स्पष्ट किया है । संक्षिप्तसारकार का कहना है कि 'शास' के सुखापूर्वक प्रवेश के लिये उक्त सुइयों को चुभा-चुभा कर अश्व की त्वचा को जर्जर किया जाता है<sup>2</sup> ।

किन्तु इन सुइयों को अश्व के शरीर में गाड़ने का मुख्य कारण निश्चित ही अश्वत्वक् को खर्जर करना नहीं है । इन का अश्व के शरीर में गाड़ा जाना प्रतीकात्मक है । ब्राह्मण के ही शब्दों में ये सुइयाँ प्रजा का प्रतीक हैं । अश्व राष्ट्र का<sup>3</sup> । राष्ट्रस्म अश्व के शरीर में प्रजास्म सुइयों को गाड़ने का विधान करके ब्राह्मण अश्वमेध के यजमान को प्रजा और राष्ट्र के संयुक्त बल से सम्पन्न देkhना चाहता है । सुइयाँ तीन धातुओं की हैं ताँबे की, चाँदी की, सौने की । ब्राह्मण का कहना है : ये ताँबे की इसलिये हैं क्योंकि प्राची आदि दिशाएँ ताम्रमयी हैं । ये चाँदी की इसलिये हैं क्योंकि अवान्तर दिशाएँ रजतमयी हैं । ये सौने की इसलिये हैं कि उध्वदिशा हिरण्यमयी है<sup>4</sup> । यहाँ ब्राह्मण का दिशाओं को ताँबे चाँदी और सौने की बताना विशुद्धा प्रतीकात्मक है । उस का कहना है :

'ताभिरेवैन कल्पयन्ति'<sup>5</sup> इस वाक्य में अश्व में इन विविधा वर्णमयी दिशाओं की कल्पना करने की बात कही गयी है । अश्व में इन ताँबे, चाँदी सौने के वर्णों की दिशाओं की कल्पना करना इस के प्राणों के उत्क्रमण को प्रतीकायित करता है । उपनिषदों में प्राणों का उत्क्रमण नाडियों के माध्यम से माना गया है और शरीर में 101 नाडियों की कल्पना की गयी है<sup>6</sup> । प्राणों के विविधा वर्णमयी रश्मियों के माध्यम

1. मही. भा०, भा० सं० 23/33

2. सं० शा० टी०, का० श्री० सु० 20/7/1

3. 'विशा' वै सूच्यः राष्ट्रमश्वमेधः । 'श० ब्रा० 13/2/10/2

4. 'दिशा' वै ताम्रमयः । अवान्तरदिशा रजतः । उध्वदिशा हिरण्यः । वही, 13/2/10/3 .

5. वही

6. का० उप० 8/6/6; कृ० टी० 2/3/16; बृ० उप० 4/2/2-4;

से उत्क्रमण करने के उल्लेख भी मिलते हैं<sup>1</sup>। शतपथ के ही अंश  
बृहदारण्यक के अनुसार योगी के प्राण पहले सूर्यलोक में पहुँचते हैं, बाद  
में चन्द्र लोक में और अन्त में अहिमलोक में<sup>2</sup>। सूर्य का वर्ण ताँवे जैसा  
होता है और चन्द्र का रजत जैसा। यदि अहिमलोक की हिरण्यवर्ण<sup>3</sup>  
मान लिया जाय तो सुहयो का ताम्र, राजत और सौवर्णी होना अश्व  
और अश्व से प्रतीकायित यजमान के क्रमशः मुक्त होने की स्पष्ट  
करता है। ब्राह्मण का कथन है, 'सेतुमेव तं संक्रमणं यजमानः कुस्तौ  
स्वर्गस्य लोकस्य समस्टये'<sup>4</sup>। इस में यजमान के स्वर्गगमन के लिये सुहयो  
की सेतु स्थानीय बताया गया है। उक्त कथन अश्वमेध के उन यज-  
मानों के सन्दर्भ में है जिन का लक्ष्य अश्वमेध से स्वर्ग प्राप्त करना है।  
विशसनः  
-----

होम के निमित्त 'वपा' प्राप्त करने के उद्देश्य से सहिता के  
ऊँचे मंत्रों (वा०सं० 23/39-44) के उच्चारण के साथ अश्व के उदर की  
फाड़ने का विधान है। कात्यायन का यह भी कहना है कि वपा के  
स्थान पर अश्व का मेद ले लिया जाय। वपा के स्थान पर अश्व के  
मेद को लेने का विधान इसलिये है कि आचार्यों की दृष्टि में अश्व  
में वपा नहीं होती<sup>7</sup>। महीधर के अनुसार<sup>8</sup> अश्व के उदर के मध्यम में  
-----

1. छा०-8/6/5 .

2. ब० उप० 5/10/1

3. 'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुहाम्' ई०वा० 15

4. श० ब्रा० 13/2/10/1.

5. का०श्रौ० सू० 20/7/6 .

6. वही 20/7/7

7. देखें क०भा०, वही; म०भा०, वा०सं० 23/39;

8. 'उदरमध्यस्थां स्त्यानं धृताम्' घानं श्वेतं मांसं मेदः : '  
म०भा० वही .

स्थित, चिकना, घाँघी जैसा, घाना, श्वेतवर्ण का मांस ही मेद है<sup>1</sup>। इसी को अश्व की वपा के रूप में व्यवहृत करना चाहिये। अन्य पशुओं में वपा होती है। अतः उन की वपा को ही होम के निमित्त ग्रहण करना चाहिये।

वपा स्थानीय मेद के निमित्त किये जाने वाले उक्त अश्व-विशसन के सन्दर्भ में ब्राह्मण का विशेष कथान है कि इसे वेतसकट पर 'आहवनीय' के उत्तर में ही सम्पन्न करना चाहिये<sup>2</sup>। ब्राह्मण 'आहवनीय' के उत्तर में ही अश्व का विशसन करने का विधान इसलिये करता है कि उस की दृष्टि में अश्व आनुष्टुभा<sup>3</sup> है। हरिस्वामी की व्याख्या है कि अश्व के चारों श्वर 'सम्मित' होते हैं। इसीलिये अश्व आनुष्टुभा<sup>4</sup> है। यहाँ छोरों के सम्मित होने का अभिप्राय 'जुड़े हुए' होने से रहा हो सकता है। ब्राह्मण उत्तर दिशा को भी आनुष्टुभा कहता है<sup>5</sup>। प्राची से आरम्भ कर गणन करने पर उत्तर दिशा चौथी और वक्त्राकार पड़ती है। अतः वह भी आनुष्टुभा कही जा सकती है। इसीलिये ब्राह्मण आनुष्टुभा में आनुष्टुभा का विरासन कराने के पक्ष में है।

1. वपा और मेद का उक्त अन्तर कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है। संभावतः वपा का अर्ध चर्बी है। किन्तु चर्बी भी उसी रूप की होती है जैसा कि मेद बताया जा रहा है। यदि 'वपा' पद मज्जा अर्ध को दे सके तो 'वपा' और 'मेद' में अन्तर किया जा सकता है। आचार्यों की यह बातभी अधिक स्पष्ट नहीं है कि अश्व में वपा नहीं होती। पशु चिकित्सकों से जितना कुछ पता चलता है उसके अनुसार अश्व में वह सब कुछ होता है जो किसी अन्य पशु में मिलता है।

2. 'वेतस इटसूने उत्तरतो श्वस्यावदयन्ति।' श० ब्रा० 13/2/2/19

3. 'आनुष्टुभा' वा अश्व। 'वही

4. 'आनुष्टुभाः अनुष्टुभाः सम्मितास्तस्य हि चत्वारः छुरा भवन्ति।' हरि० भा० वही

5. 'आनुष्टुमीषा दिक्।'।

अश्व का वषा के निमित्त विशसन करते समय सहिता के जो मंत्र उच्चारण किये जाते हैं, अश्ववषाहुतियों की प्रतीकात्मकता की दृष्टि से उन पर दृष्टिपात कर लेना भी अनावश्यक नहीं होगा। इन में कहा गया है: हे अश्व ! क प्रजापति ही तुम्हारी त्वक् को उतार रहा है। वह ही तुम्हारे अङ्गों का विशसन कर रहा है। वह ही तुम्हारे अङ्गों में हविर्भाव उत्पन्न कर रहा है। क्रान्तद्रष्टा क प्रजापति ही तुम्हारा शमिता (काटने वाला) है<sup>1</sup>। हे अश्व ! ऋतुस्म शमिता ही प्रतिऋतु में संवत्सर के तेजस्म शमितियों से तेरे पर्वों को विशसन कर हविस्म करे<sup>2</sup>। मास और अर्धमास तेरे पर्वों का विशसन कर उन्हें हविस्म प्रदान करें। अहोरात्र के अभिमानी देवता और मस्तृगण तेरे अङ्गों को बारीछा-बारीछा काटें<sup>3</sup>। दिव्य अध्वर्यु ही तुम्हें काटें, हविस्म प्रदान करें<sup>4</sup>। द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षा लोक के अभिमानी देवता और वायु तुम्हारे छिद्रों को भारु दें<sup>5</sup>। सूर्य देव नक्षत्रों के साध्या तुम्हारे रहने के लिये लोक प्रदान करें, आदि।

सहिता के इन मंत्रों से स्पष्ट है कि अश्व का विशसन सृष्टि की व्याख्या है। प्रजापति स्म कोई अदृश्यसत्ता ही अश्व से प्रतीकायित इस विश्व का क्षाण प्रतिक्षाण विशसन कर रही है। संवत्सर, ऋतुएँ, मास अर्धमास और अहोरात्र ही विशसन के साधन हैं। विश्वस्म पशु का विशसन यज्ञस्म अर्चन के लिये ही रहा है। सृष्टि में क्षाण प्रतिक्षाण यह यज्ञ प्र व्याप्त है। किन्तु यह यज्ञ किसी के बधा

1. वा. सं 23/39

2. वही 23/40

3. वही 23/41

4. वा. सं 23/42

5. वही 23/43

के लिये नहीं है अपितु वैयक्तिकता और पार्थिवत्व से ऊपर उठ कर अग्नि वायु और सूर्य रूप हो जाने या नक्षत्रों के मध्य देदीप्यमान लोकों में स्थाित हो जाने के लिये है। यजमान वपाहुतियों के प्रसङ्ग में किये जाने वाले उक्त अश्वविशसन से संभवतः अश्व के साधा स्वयम् भी सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप होना चाहता है, नक्षत्रों के मध्य देदीप्यमान लोकों में स्थाित होना चाहता है।

शतपथा विशसन पूर्वक मात्र अश्व की वपाओं (मेद) को ही आहवनीय के उत्तर में निकाले जाने के पक्ष में है<sup>1</sup>। किन्तु श्रौतसूत्र में प्राप्त विधान के अनुसार केवल अश्व की ही नहीं, अपितु सभी प्राजापत्य पशुओं की वपाओं को आहवनीय के उत्तर में निकालना चाहिये और इन्हें वहीं पर पका कर आहवनीय के उत्तरीभाग में इन से हवन करना चाहिये<sup>2</sup>। श्रौतसूत्र में जाये कात्यायन के उक्त विधान से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं: प्रथम तो यह कि दिवतीय सुत्यादिवस में आलभान किये गये सभी ग्राम्यपशुओं की वपायें निकाली जाती थीं; कुछ आहवनीय के उत्तर में और कुछ दक्षिण में<sup>3</sup>। दिवतीय यह कि वपाओं से होम करने से पहले इन्हें पकाया जाता था।

लोहित पात्रः

कात्यायन का स्पष्ट विधान है कि रक्त केवल अश्व का ही पकाया जाये<sup>4</sup>। किन्तु शतपथा में अश्व के रक्त को पकाये जाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। एक स्थान पर अश्व के

1. 'उत्तरतो र्वस्यावद्यन्ति ।' श. ब्रा. 13/2/2/19

2. 'प्राजापत्यवपानायुत्तात्तः अपर्णा होमो हविषश्च।'

का. श्रौ. सू० 20/7/9

3. श. ब्रा. 13/5/3/8

4. का. श्रौ. सू० 20/7/8

'तैदन्या' को बैतस शाखाओं पर और अन्य पशुओं की तैदन्या को प्लक्ष शाखा पर क्रमशः वेदी के उत्तर और दक्षिण में विभक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है<sup>1</sup>। हरिस्वामी ने 'तैदन्या' पद की लौहित व्याख्या की है<sup>2</sup>। अश्व के रक्त का उल्लेख यहाँ आता अवश्य है, किन्तु आहुतियों के निमित्त विभाग किये जाने के प्रसङ्ग में; पकाये जाने के प्रसङ्ग में नहीं। लगता ऐसा है कि कात्यायन ने 'लौहित चास्य अपयन्ति' सूत्र को वाजसनेयिसंहिता के उन पाँच मंत्रों के आधार पर बनाया होगा जिनमें अश्व के मांस को पकाने का विस्तृत उल्लेख<sup>3</sup> है और जिन्हें वपाहुतियों के बाद धृताहुति के समय बोलने का विधान है<sup>4</sup>। 'लौहित' पद अपने मूल रूप में वर्ण वाची है। सदा काटा गया मांस रक्त का अंश बचे रहने के कारण लौहित ही होता है। अतः कात्यायन ने इस वर्णसाम्य के आधार पर ही अश्व के 'लौहित' को पकाने का विधान किया होगा। या फिर यह कहा जा सकता है कि आरम्भ में अश्व का मांस रक्त आदि सब कुछ पकाया जाता होगा<sup>5</sup>। क्योंकि कात्यायन के 'शूले श्वशेषअणाम्'<sup>6</sup> से यह ध्वनि निकलती है कि 'उरवा' जैसे किसी पात्र में मांस आदि के पकाये जाने से बचे अश्व के कठोर भागों को ही शूल की सहायता से पकाया जाता था। बाद में इस पाक को अश्व के 'रक्त' तक ही सीमित कर दिया गया; वह भी मात्र आहुति देने के लिये, किसी 'अन्य उपयोग' के लिये नहीं।

1. श. ब्रा. 13/5/3/8

2. 'तैदन्या तैदनी लौहितम् ।' हरि०भा०, वही

3. वा. सं. 25/33-37.

4. का. अ. सू. 20/8/6.

5. वा. सं. 25/33-37.

6. का. अ. सू. 20/7/27.

### ऋग्वेद

'वपाजो' के निकल लिये जाने और 'लोहित' के पकालिये जाने के बाद इन की आहुतियों में प्रवृत्त होने से पहले दो कार्य करने का विधान है : प्रथम है ऋग्वेद<sup>1</sup> और द्वितीय है 'महिम ग्रह' की सर्वहुत् आहुतियाँ<sup>2</sup> । 'ऋग्वेद' निश्चित ही वपाहोम की दार्शनिक पृष्ठभूमि है । इगलिंग ऋग्वेद का अनुवाद 'धियोतो जीकल डिस्कशन' करते हैं<sup>3</sup> और वह सही हैं । वपाहोम से पहले जाने वाला यह विशुद्ध दार्शनिक परिसंवाद यज्ञ विधि की दृष्टि से दो स्थानों में पूर्ण होता है । आरम्भ में होता अथर्व ऋग्वेद और उद्गाता 'सदस्' में यजुर्वेद के 'कस्विदेकाकी' इत्यादि आठ मंत्रों से उक्ति-प्रत्युक्ति पूर्वक संवाद करते हैं<sup>4</sup> और अन्त में सदस् से बाहर निकल कर हविर्धान के सामने एवं उत्तर वेदी के पीछे यजुर्वेद ही के दस मंत्रों के द्वारा इसे पूरा किया जाता है । ऋग्वेद में प्रश्नकर्ता के रूप में यजमान को भी सम्मिलित करने का विधान है<sup>5</sup> । यजमान के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर अथर्व देता है<sup>6</sup> ।

'ऋग्वेद' में जिन मंत्रों का विधि के रूप में रखा गया है वे मूल रूप में ऋग्वेद के मंत्र हैं । ये ऋग्वेद का क्लिष्टतम अंश हैं । विद्वानों ने इन्हें 'पहेली' मानना ही अच्छा समझा है । सब यह है कि इन है कि इन में अल्पन्त प्रतीकात्मक रूप में सृष्टि के रहस्य के ऊपर प्रश्नोत्तर शैली में प्रकाश डाला गया है । इन मंत्रों को हम आर्यों के दार्शनिक

1. श. भा. 13/5/2/11; का. श्री. सू. 20/7/10, 11, 12, 13, 14, 15;

2. श. भा. 13/5/2/23; का. श्री. सू. 20/7/16, 17;

3. इगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग 5, पृ. 388

4. का. श्री. सू. 20/7/10, 11;

5. वही 20/7/12, 13, 14, 15;

6. वही, 20/7/14

7. वही, 20/7/15

8. बा. सं. 23/45-62.



विन्तन की आधार शिला के रूप में भी देखा सकते हैं। प्रस्तुत में इन में वर्णित विषय वस्तु को अपने दार्शनिक आयाम के साधन उपस्थापित करना आवश्यक नहीं लगता। यहाँ मात्र इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा कि जिस उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिये ब्राह्मण और श्रौतसूत्र अश्वमेधा में 'वपाहोम' का विधान करते हैं 'ब्रह्मोदय' में प्रयुक्त मन्त्र उस का वैचारिक आधार है।

महिमग्रह

महिमग्रह दो होते हैं 'एक 'पूर्वमहिमग्रह' और एक 'उत्तर महिमग्रह'। इन के विषय में ब्राह्मण की आख्यायिका है प्रजापति ने चाँह कि मैं 'महान्' और 'बहुत' हो जाऊँ। उस ने अश्वमेधा में इन दो महिमा 'ग्रहों' को देखा। उसने इन दोनों से हवन किया। इन से हवन करके वह महान् और बहुत हो गया। जो यह चाहे कि वह महान् और बहुत हो जाये, वह इन दो ग्रहों से हवन करे<sup>1</sup>।

ब्राह्मण की यह आख्यायिका स्पष्ट करती है कि महिमग्रह से हवन 'महान्' और 'बहुत' होने के लिये है। इन से हवन करने के प्रसङ्ग में उस का विधान है : 'वपामभिरुहोति'<sup>2</sup>। -अर्थात् इन से हवन वपाहुतियों से आगे और वपाहुतियों से पीछे करे। पूर्व महिम ग्रह से वपाहुति देने से पहले हवन करे और उत्तर महिम ग्रह से वपाहुति देने के बाद हवन करे। कात्यायन ब्राह्मण की इस व्यवस्था से पूर्ण सहमत है<sup>3</sup>।

ब्रह्मोदय के सम्पन्न हो जाने पर अथर्व्यु सदस् में प्रवेश करता है और वहीं पर प्रजापति के निमित्त स्वर्णमात्र में सोम निचाड़ता है<sup>4</sup>। यही पूर्व महिमग्रह है। इस समय 'पुरोवाक्' के रूप में 'हिरण्यगर्भाः

1. श. ब्रा. 13/2/11/1.

2. वही 13/2/11/2.

3. अ. श्रौ. सू. 20/7/16; 20/7/26;

4. श. ब्रा. 13/5/2/23.

समवर्ततामे' यह मंत्र बोलता जाता है । यजमान उसे ग्रहण करता है और 'यस्ते हन् संवत्सरे महिमा' मंत्र के साथ इस रूप में उस से हवन किया जाता है कि पात्र में कुछ भी शेष नहीं रहता<sup>1</sup> । उत्तर महिमग्रह में भी प्रजापति के निमित्त सोम रहता है । सोम चौदी के पात्र में लिया जाता है । इस में 'पुरावाक्' रूप में 'यः प्राणतो' मन्त्र को बोलता जाता है और 'यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा' मंत्र के साथ इस रूप में इससे हवन किया जाता है कि पात्र में कुछ भी सोम शेष न रहे<sup>2</sup> ।

महिमग्रहों की 'प्रतीकात्मकता' के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है: यजमान अश्वमेधा है, राजा महिमा है<sup>3</sup> । आचार्य हरिस्वामी ब्रह्मे ने उक्त ब्राह्मण वाक्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहाँ प्रयुक्त हुआ 'यजमान' पद 'अश्वमेधाहोम' का वाचक है, 'राजा' पद महिमासूचक 'राज्य' अर्थात् का वाचक है और स्वयम् 'महिमा' पद महिमग्रह का<sup>4</sup> । अर्थात् अध्वयु वपाहोम के आरम्भ और अन्त में महिमग्रहों से हवन करके अश्वमेधाहोम रूप अश्वमेधा को राज्यरूप महिमा से युक्त करता है । हरिस्वामी के सहयोग से प्राप्त होने वाले इस अर्थ से प्रथम तो यह स्पष्ट होता है कि महिमग्रह से वपाहोम के आरम्भ और अन्त में हवन इसलिये किया जाता है कि यजमान सुदृढ़ राज्यरूप महिमा से युक्त हो सके । द्वितीय यह कि वास्तविक 'अश्वमेधा' अश्वमेधा में सम्पन्न होने वाला 'वपाहोम' ही है ।

किन्तु, महिमग्रहों के रूप में सोने और चांदी के पात्रों का प्रयोग और इन से हवन करते समय बोलते जाने वाले मंत्रों का अर्थ, प्रकट करते

1. श. ब्रा. 13/5/2/23

2. वही 13/5/3/7

3. 'यजमानो वा अश्वमेधा : राजा महिमा ।' श. ब्रा. 13/2/11/2

4. हरि. भा. वही .

हैं कि ये दोनों ग्रह 'सूर्य' और 'चन्द्रमा' के प्रतीक हैं। ये वपाहोम में अपनी 'स्थितियाँ' से प्रकट करते हैं कि दिन और रात के मध्य में किये जाने वाला समस्त व्यापार ही 'वैश्वयज्ञ' की पक्कायी हुई आहुतियाँ हैं। जो इस तथ्य को समझता है वह निश्चित ही 'बहुत' और 'महान्' हो जाता है। प्रजापति ने इन सूर्य और चन्द्र रूप दो महिमग्रहों से ही विश्वस्म अश्वमेधा को सम्पन्न किया होगा और ऐसा अश्वमेधा करके वह निश्चित ही 'बहुत' और 'महान्' हो गया होगा। अश्वमेधा के सही प्रतिनिधि 'वपाहोम' के आगे-पीछे महिमग्रहों से हवन संभावित इसीलिये किया जाता है कि यजमान वपाहोम को-अश्वमेधा को महिमा-युक्त कर सके और इसके महिमायुक्त होने से स्वयम् भी 'महान्' और 'बहुत' हो सके।

#### वपाहोम -----

'पूर्वमहिमग्रह' से हवन पूर्णकर पहले से ही पक्का कर रखी हुई वपाओं से विभिन्न देवों के निमित्त हवन करने का विधान है। यहाँ ऋग्वेद प्रत्यक्षात्म में, वपाहुतियों से सम्पन्न होने वाले अर्धा को किंचिद् भी स्पष्ट न कर 'पहले किस देव को आहुति दी जाय'-इस विधि को ही अधिक महत्व देते हुए, इसे पूर्ण स्पष्ट करने के प्रयास में प्राचीन आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख करता है। मुख्य समस्या अश्व, तूपर और गौमृग से आगे के पशुओं की वपाहुतियों की है। वपाहुतियों के प्रसङ्ग में ऋग्वेद ने कुल कुल मतों का उल्लेख किया है। उसका कहना है: सत्यकाम जाबाल के मत में 'वैश्वदेव' को दी जाने वाली वपाआहुति से पहले की सभी आहुतियाँ देवतापशुक्रम से एक-एक और पृथक्-पृथक् रूप में दी जायें वैश्वदेव की आहुति के

बाद शेष वपाहुतियाँ एक साथ दी जायें<sup>1</sup>। सोमाप मानुततव्य<sup>2</sup> के मत में इन्द्र-अग्नि के निमित्त वपाहुति देने के बाद इतर देवों के लिये वपाहुति एक साथ दी जायें<sup>3</sup>। शैलाति के मत में प्रजापति के लिये वपाहुति देने के बाद अन्य देवों के लिये वपाहुति एक साथ दी जायें<sup>4</sup>। भाल्लवेय के मत में वातुर्मास्य देवों के लिये पृथाक्-पृथाक् वपाहुति देकर अवशिष्ट वपा के इक्कीस भाग करके सब देवों के लिये कुल इक्कीस वपाहुतियाँ दी जायें<sup>5</sup>। इन्द्रोत शौनक के मत में सभी देवों के लिये पृथाक्रम से पृथाक्-पृथाक् वपाहुतियाँ दी जायें। याज्ञ वल्क्य के मत में प्राजापत्यपशुओं की वपाओं से एक साथ और अन्य देवातापशुओं की वपाओं से एक साथ आहुतियाँ दी जायें<sup>6</sup>।

'पहले वपाहुति किस देव के लिये दी जायें' पर बत न देकर 'देवों के लिये वपाहुतियाँ किस क्रम में दी जायें' पर बत देते हुए विधि की ही दृष्टि से कात्यायन ने भी ब्राह्मण की छाया में, वपाहुतियों पर विचार किया है। उन्होंने ब्राह्मण में आये 'भाल्लवेय'; 'सोमाप मानुततव्य' और 'शैलाति' के मतों को वपाहोम सम्बन्धी 'विकल्पों' के रूप में उपस्थित करके<sup>7</sup> इन की समीक्षा की है<sup>8</sup>। उन्होंने इस सन्दर्भ स्वमत का स्पष्ट कथान नहीं किया है। किन्तु जिस रूप में

1. श. अ. 13/5/3/1

2. वही 13/5/3/2.

3. वही 13/5/3/3.

4. वही 13/5/3/4.

5. वही 13/5/3/5.

6. वही 13/5/3/6.

7. अ. अ. सू. 20/7/22, 23, 24

8. वही, 20/7/25.

उन्होंने पूर्वप्राप्त मतों को रखा है उस से उन का स्वमत बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उन्हें वपाहुतियों के सम्दर्भ में 'इन्द्रोत शानिक' के मत का समर्थन करने वाला आचार्य कहा जा सकता है। कात्यायन और उन के अनुयायियों के मत में सबसे पहले एकादशिनियों की वपाओं से पृथाक्-पृथाक् आहुति देनी चाहिये और तदनन्तर अश्व, तूपर और गौमृग की वपाओं से पृथाक्-पृथाक्। प्राजापत्य पशुओं की उक्त क्रम में वपाहुति देने के बाद 'कृष्णाग्नीव आग्नेय' पशु से लेकर 'श्वेताः सायर्षि' तक के पशुओं की वपाओं से पृथाक्-पृथाक् आहुति देनी चाहिये।

वनस्पति होमः

'अश्व' से लेकर 'श्वेताः सायर्षि' तक के पशुओं की वपाओं से होम करने के अनन्तर आज्य से वनस्पति के लिये होम करने का विधान है<sup>2</sup>। किन्तु कात्यायन ने जिस रूप में इस होम का विधान किया है उससे यह स्पष्ट है कि यह प्रकृतयाग की विधि है, अश्वमेधा की नहीं। ब्राह्मण में अश्वमेधा के प्रसङ्ग में वनस्पति याग का कोई उल्लेख नहीं आता। इसलिये भी इसे प्रकृतयाग की विधि मानना उचित है। इगलिंग के अनुसार वनस्पतियाग से अभिप्राय वनदेवी के लिये होम<sup>3</sup>। वह इसे 'सोम' के लिये किया गया होम भी कहते हैं<sup>4</sup>। संभावतः यही सही है। वपाहोम के अन्त में 'उत्तरमहिमग्रह' से सर्वहुत आहुति दी जाती है। इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है। किन्तु

1. देहौ, क भा०, सं सा. टी. , का० श्री० सू 20/7/18, 25;

2. 'स्विष्टकृत्वनस्पत्यन्तरे' का. श्री. सू 20/8/3 .

3. इगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग-5, पृ. 336 .

4. वही ।

वन्दमा वनस्पतियों का सामान्य रूप से और सोम का विशेष रूप से अधिपति है । अतः उत्तरमहिमग्रह से आहुति देने के बाद वनस्पतिहोम के रूप में सोम के लिये आहुति देने में अविविक्त है । वनस्पतिहोम ही की आहुतियों से सम्पन्न किया जाता था<sup>1</sup> । यह स्पष्ट नहीं है कि इस में कितनी धृताहुतियाँ दी जाती थी ।

#### अश्वशेषहोमः

वनस्पतिहोम के तुरन्त बाद शूल में लगा कर पकाये गये अश्वशेषों से होम करने का विधान है<sup>2</sup> । उक्त अश्व अवशेषों का उत्तरमहिमग्रह की सर्वहुत् आहुति देने के तुरन्तबाद में तो पकाया जाता है<sup>3</sup> । और इन से वनस्पतिहोम के बाद हवन किया जाता है ।<sup>4</sup> आचार्य कर्क का कहना है कि ब्राह्मण में 'प्रजापत्यांश्च रक्ष' जैसे अनेक वाक्य मिलते हैं । अतः अश्वशेषों से प्रजापति देव को निमित्त करके ही हवन करना चाहिये । अश्वशेषों से प्रजापति के निमित्त हवन उसे अविकलाङ्ग बनाने के उद्देश्य से किया गया माना जा सकता है ।

#### अश्ववाङ्गदेवों के लिये आज्यहोमः

अश्वशेषों से हवन करने के बाद अश्व के अङ्गों के देवताओं के निमित्त ही से हवन करने का विधान है । यह अश्वमेधा की बहुत महत्वपूर्ण विधि है । इस के सम्बन्ध में विद्वानों में मत

1. इगलिंग, शतपथ ब्राह्मण, भाग-5, पृ 336 .

2. का. श्रौ. सू. 20/8/3

3. वही 20/7/27 .

4. वही 20/8/3 .

वैविध्य भी है। मत वैविध्य का मुख्य कारण वाजसनेयी संहिता के वे मन्त्र हैं जो अश्व के अङ्गों के देवताओं को ची की आहुति देते समय उच्चारण किये जाते हैं। कुछ विद्वानों के मत में संहिता का यह भाग (25/1-9) 'मंत्र' न होकर 'ब्राह्मण' है। दूसरे विद्वान् इस भाग को मंत्र ही मानते हैं। कात्यायन ने इन्हें ब्राह्मण भाग मान कर 'शादय स्वाहा' 'दद्भ्यः स्वाहा' 'अक्काभ्यः स्वाहा' स्म में उच्चारण के साधन इन से ची का हवन करने की बात कही है<sup>1</sup>। महीधार आदि इन्हें 'मंत्र' मान कर 'शाद दद्भिः प्रीणाभि स्वाहा' स्म में उच्चारण के साधन इन से ची का हवन करने की बात कहते हैं<sup>2</sup>। अश्वान्न देवों को आहुति देने के लिये ची को ही साधन इसलिये बनाया जाता है कि ब्राह्मण के 'देवताभ्यो श्वान्नैभ्यश्च जुहोति शादप्रभृतिष्वगन्तभ्यः'। 'आज्य मवदानी कृत्वा प्रत्याख्याय देवताभ्य आहुतिर्जुहोति'<sup>3</sup> 'जैसे वाक्यों से देवता, द्रव्य और विधि तीनों ही सुस्पष्ट हैं।

कात्यायन अश्वान्नदेवों के लिये यहाँ कुल 131 आहुतियाँ दिये जाने के पक्ष में। यथार्थ में ब्रह्म संहिता में ये 132 हैं। कात्यायन 'जुम्बक' के लिये दी जाने वाली आहुति का यहाँ विधान नहीं करता। उन्होंने इसे अवभृथस्नान के बाद 'वस्त्रा' के लिये एक विशेष स्म में देने का विधान किया है।

1. 'देक्ता श्वान्नैभ्यो जुहोत्यमुष्मे स्वाहेति' का. अ. सू. 20/8/4

2. मही. भा. 0, वा. सं. 25/1; सं. सा. 20/8/4;

3. श. भा. 13/3/4/1.

4. महीधार आदि के मत में इनकी संख्या कम रहती है। क्योंकि वे कुछ

अङ्गों को देक्ता और कुछ को द्रव्य स्म में आया मानते हैं। 'शाद दद्भिः प्रीणाभि स्वाहा' में उन्होंने 'शाद' को देवता और 'दद्भ्य' को द्रव्य माना है।

उक्त आज्य होम के सन्दर्भ में ब्राह्मण का कहना है कि अश्वमेधा में अश्व का आलभान वस्तुतः सभी देवों के लिये होता है। अतः जब सभी देवों के लिये आलभान हुए अश्व को अध्वर्यु अश्व की 'वपाहुति' से, 'अश्वशीष' के होम से प्रजापति का बना देता है तो वे सब देव, जिन के लिये भी अश्व का आलभान हुआ था, अपने भाग से रहित रह जाते हैं। इसीलिये आज्य के विभाग करके 'प्रत्या-  
 ङ्याय' देवताओं के लिये हवन करता है<sup>1</sup>। ब्राह्मण का उक्त कथान यथार्थ है। वस्तुतः 'स्वगा त्वा देवेभ्यः' 'त वधान देवेभ्यः' 'विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि' 'सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि' इत्यादि वाक्यों से यह पूर्ण स्पष्ट है कि अश्वमेधा में अश्व का आलभान सभी देवों के लिये होता है और अभी तक उप-  
 स्थित की गयी समीक्षा के अनुसार उस का हवन केवल प्रजापति के लिये। किन्तु उसके ही अङ्गों के देवताओं को भी से हवन करके<sup>2</sup> सम्पूर्ण प्रत्याङ्याय देवों पक्षे निर्मत्रित किये गये और बाद में भाग प्रदान न किये गये को तो तृप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि उनके लिये तो अब भी हवन नहीं हुआ। अतः मानना होगा कि 'स्वगादेवेभ्यः' 'जैसे वाक्यों से जिन देवों के लिये अश्व का आलभान हुआ था वस्तुतः वे और अश्व के अङ्गों के देवता पृथक् नहीं हैं। अश्व के अङ्गों में अङ्ग अभिमानी देवता के स्म में ये समस्त देव विद्यमान हैं। उक्त आज्य होम में अश्व-अङ्गदेवों के स्म में इन समस्त देवों के लिये ही हवन होता है।

1. 'सर्वाभ्यो वै देवताभ्यो श्व आलभते . . . . आहुतीर्जुहोति।'।

श. ब्रा. 13/3/4/1 .

2. 'देवता श्वाङ्गेभ्यो जुहोति' कात्यायन, 20/8/4 .



स्विष्टकृत् होमः  
-----

अरवाङ्गदेवों के लिये आज्यहोम कर लेने के बाद स्विष्टकृत् होम किये जाने का विधान है क्योंकि 'स्विष्टकृद् वनस्पत्यन्तरे शूलं हुत्वा देवता रवाङ्गोभ्यां जुहोति' और 'स्विष्टकृदन्तै ग्निभ्यः स्विष्टकृद्भ्यः' <sup>2</sup> इन विधानों से स्पष्ट है कि 'स्विष्टकृत् होम' अरवाङ्गदेवताओं के लिये होने वाले 'आज्य होम' और स्विष्टकृत् अग्नियों के लिये होने वाले 'लोहितहोम' के बीच में होता है। कात्यायन 'स्विष्टकृत् होम' का विधान तो करते हैं किन्तु स्पष्ट रूप में नहीं बताते कि 'अमुक' स्विष्टकृत् होम है। ब्राह्मण ने भी स्पष्ट नहीं किया है कि अमुक विधि 'स्विष्टकृत् होम' है।

किन्तु अरवाङ्गदेवों के लिये आज्यहोम करने के मंत्रों (अथावा ब्राह्मण) का विधान कर के स्विष्टकृत् अग्नियों के लिये होम का विधान करने से पहले उन्होंने 'विमुरवाच्च परेभ्यः' <sup>3</sup> 'मानो मित्र' <sup>4</sup> 'अन्त्याद्यावापृथिवीयाम्' <sup>5</sup> - इन तीन सूत्रों से हवन करने का विधान किया है। निश्चित ही आज्य से होने वाला यह हवन ही 'स्विष्टकृत् होम' है। यदि कात्यायन को ही आधार बना लें तो कहा जा सकता है कि इसकी विधि तीन भागों में विभक्त है। प्रथम में वाजसनेयी संहिता के 'अग्निहृदयेन' (39/8) इत्यादि मंत्रों से घी की आहुतियाँ दी जाती हैं। द्वितीय में 'मानो मित्र' (25/24) इत्यादि 16 मंत्रों से घी की सोलह आहुतियाँ दी जाती हैं और तृतीय भाग में 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' (वा. सं 39/13) मंत्र से उत्तमा आहुति दी जाती है।

-----  
1. का. श्रौ. सू. 20/8/4

2. वही 20/8/8

3. वही 20/8/5

4. वही 20/8/6

5. वही 20/8/7.

'स्विष्टकृत' इस नाम से ही स्पष्ट है कि यह होम यजमान आदि के कृत्याण और विधि की निर्विघ्न परिसमाप्ति से सम्बद्ध है । ब्राह्मण में और अन्यत्र भी, इसके सन्दर्भ में अधिक कुछ नहीं मिलता। केवल इस की तृतीय विधि-द्यावापृथिवी के लिये उत्तमाधाताहुति के सन्दर्भ में ब्राह्मण का एक वाक्य अवश्य मिलता है जिस में कहा गया है कि समस्त देवता द्युलोक और पृथिवीलोक में स्थित हैं । द्यावापृथिवी को आहुति देकर वह उन्हें प्रसन्न करता है<sup>1</sup>। यही यह समझतेना आवश्यक है कि अन्तरिक्ष के देव द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में आने के कारण इस वाक्य में 'सभी देवा' में सम्मिलित किये हुए हैं ।

लोहितहोमः  
-----

कात्यायन का कहना है कि 'स्विष्टकृतहोम' के अन्त में 'अग्निभ्यः स्विष्टकृद्भ्यः स्वाहा' उच्चारण के साथ 'लोहित' की आहुति दे<sup>2</sup> । कात्यायन लोहित की आहुतियों को 'जुहु' से दिये जाने के पक्ष में नहीं है । इसीलिये उन्होंने सूत्र में 'यथावत्तम्' पद का प्रयोग किया है । कर्क का कहना है कि जिन पात्रों में अश्व के रक्त के विभाग किये गये थे उन्हीं से आहुति दे, जुहु का प्रयोग न करे<sup>3</sup> । कात्यायन के ऊपर आये विधान<sup>4</sup> के अनुसार अश्व लोहित के गोमृगकण्ठ, अश्वशफ और अयस्मयवरु में तीन विभाग किये गये थे । अतः गोमृगकण्ठ से स्विष्टकृत अग्निभ्यों के लिये पहली आहुति दे, अश्वशफ से दूसरी आहुति दे और अयस्मय चरु से तीसरी आहुति दे<sup>5</sup> ।

1. 'द्यावापृथिव्यार्वै सर्वा देवताः प्रतिष्ठिताः ता एवैतत्प्रीणाति।'।

श. भा. 13/3/4/1

2. 'स्विष्टकृदन्तै ग्निभ्यः स्विष्टकृद्भ्यः स्वाहेति लोहित जुहोति यथावत्तम् ।' का. श्रौ. सू. 20/8/8 .

3. क. भा. , वही

4. का. श्रौ. सू. 20/8/1 .

5. श. भा. 13/3/4/3, 4, 5 .

'लोहित होम' में रक्त की तीन आहुतियाँ दी जाती हैं, वह भी मात्र अश्व के रक्त की<sup>1</sup>। कात्यायन ने अश्व की वपाओं के निमित्त मेद ग्रहण करने के विधान के तुरन्त बाद 'लोहित वास्य अपयन्ति'<sup>2</sup>। सूत्र के माध्यम से अश्व के लोहित को पकाने का विधान किया था। इस पके हुए रक्त से अब तक उन्होंने किसी भी विधि को सम्पन्न नहीं कराया। यह एक संभावना बनती है कि गोमृगकण्ठ आदि के माध्यम से दी जाने वाली तीन आहुतियाँ कहीं इस पके हुए अश्वलोहित की ही न हों। यह संभावना लोहित आहुतियों के 'स्विष्टकृत् अग्नियों' के निमित्त दिये जाने से विधान तक ही सीमित है<sup>3</sup>, इस से आगे नहीं। ऐसा इसलिये कहा जा रहा है कि ब्राह्मण इन तीन आहुतियों को 'स्विष्टकृत् अग्नियों' के निमित्त विहित हुई न मान कर 'स्विष्टकृत् रूद्र' के लिये विहित मानता है<sup>4</sup> और रूद्र के निमित्त दी जाने वाली आहुतियों के पके हुए लोहित की होना असंभव है। उन के कच्चे रक्त की होने की ही संभावना अधिक है।

ब्राह्मण के अनुसार लोहितहोम के रूप में स्विष्टकृत् रूद्र के लिये दी जाने वाली उक्त तीनों रक्त आहुतियों में से प्रथम (गोमृगकण्ठ से दी जाने वाली) आहुति पशुओं की रूद्रदेव से रक्षा

1. श. ब्र. 13/3/4/3, 4, 5

2. का. औ. सू. 20/7/8.

3. (क) वही 20/8/8

(ग) 'गोमृगकण्ठेन प्रथमाहुतिम्, अश्वशपेन द्वितीयाम् अपस्मयेन च सप्ता तृतीयाम्।' सं. सा. टी. 0, वही 20/8/8

4. श. ब्र. 13/3/4/3, 4, 5.

करने से संबन्धित है। उस का कहना है कि यदि अश्वमेधा में यह आहुति रूद्र के लिये दे दी जाती है तो रूद्र पशुओं का क्या नहीं करते<sup>1</sup>। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि 'गोमृगकण्ठ' से दी जाने वाली आहुति का सम्बन्ध मात्र दिवशाफ पशुओं की रक्षा से है। क्योंकि ब्राह्मण द्वितीय रक्त आहुति (अश्वशाफ से दी जाने वाली आहुति) को एकशाफ पशुओं की रूद्र से रक्षा के निमित्त दी हुई मानता है। ऐसा अभिप्राय इसलिये निकाला जा रहा है क्योंकि ब्राह्मण का उक्त आहुति के सन्दर्भ में कथान रहा है: 'पशवो वा एकशाफा रूद्रः स्विष्टकृत्'<sup>2</sup>। 'अयस्वरु' से दी जाने वाली तृतीय रक्त आहुति का सम्बन्ध रूद्र से राज्य की प्रजाओं की रक्षा करने से है<sup>3</sup>। ब्राह्मण प्रजाओं को 'आयास्य' कहता है<sup>4</sup>। हरिस्वामी 'आयास्य' का अर्थ 'मध्यम प्राण' करते हैं। अर्थात् प्रजायें मध्यम-प्राणस्मात्मिका होती हैं। उन का कहना है कि 'अयस्' और 'आयास्य' में शब्द सारूप्य है। इसलिये ब्राह्मण ने आयास्य प्रजाओं की रूद्र से रक्षा करने के लिये 'अयस्वरु' से रूद्र के निमित्त तृतीय और अन्तिम रक्त आहुति को देने का विधान किया है<sup>5</sup>।

अतः कहा जा सकता है लोहिमहोम में दी जाने वाली तीन रक्त आहुतियों का सम्बन्ध यजमान की पशुसंपत्ति और प्रजासंपत्ति की उम्र देव 'रूद्र' से रक्षा करने से है।

1. 'पशूनेव रूद्रादन्तर्दधाति । तस्माद्यत्रैषा श्वमेधा आहुतिर्हूयते ।

न तत्र रूद्रः पशूनाभिमन्यते ।' श. ब्रा. 13/3/4/3 .

2. वही 13/3/4/4 .

3. 'प्रजा एव रूद्रादन्तर्दधाति । तस्माद्यत्रैषा अश्वमेधा आहुतिर्हूयते ।

न तत्र रूद्रः प्रजामभिमन्यते ।' वही 13/3/4/5 .

4. वही .

5. हरिभा०, वही .

उपर की समीक्षा से स्पष्ट है कि कात्यायन उक्त तीन लोहित आहुतियों को 'अग्निः स्वष्टकृद्भ्य स्वाहा' के साधन देने का विधान करके स्पष्ट रूप में 'स्विष्टकृत् अग्नियौ' के निमित्त दी जाने वाली आहुतियों के रूप में उपस्थात करते हैं। उपर आये उल्लेखों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट रूप से इन्हें 'स्विष्टकृत् रुद्र' के निमित्त दी जाने वाली आहुतियाँ बताता है। यदि कात्यायन के विधान में से 'स्विष्टकृत् अग्नियौ' रूप विशेष देवों और 'गौमृगकंठ' 'अश्वशफ' एवं 'अयसवरु' रूप विशेष साधनों के विधान को कम करके, इन्हें मात्र रक्त की आहुतियों के विधान के रूप में ग्रहण करें और 'लोहितहोम' के रूप में अश्वमेधा में तीन के स्थान पर छः रक्त आहुतियों का दिया जाना स्वीकार करें तो कात्यायन और शतपथ के बीच दिखायी देने वाली विप्रति पत्ति समाप्त हो सकती है। वह इस लिये कि ब्राह्मण में उल्लेख आया है 'देव और असुरों में संघर्ष चल रहा था। देवों ने कहा- हम अश्वमेधा के स्विष्टकृत् हैं हमें इस में से अपना विशेष भाग लेना चाहिये। अपने शत्रुओं को परास्त करने के लिये उन्होंने अश्व का रक्त लिया। अश्वमेधा में स्विष्टकृत् के निमित्त जो रक्त हवन किया जाता है वह अपने शत्रुओं को परास्त करने के लिये है।' ब्राह्मण के इस उल्लेख में देवों द्वारा अश्वमेधा के अश्व के रक्त को लिये जाने का कथन है और कथन है अश्वमेधा में रक्त की आहुतियों के दिये जाने का। देवों के लिये दी जाने वाली ये रक्त आहुतियाँ अश्व के पकै हुए रक्त की भी हो सकती हैं, जिसे पकाने का विधान कात्यायन स्वयं कर चुके हैं।<sup>2</sup> ब्राह्मण प्रस्तुत स्थल में रक्त आहुतियों की संख्या स्पष्ट

1. श. भा. 13/3/4/2.

2. का. श्रौ. सू. 20/7/8.

नहीं कर रहा है। अतः कात्यायन के अनुसार ये तीन भी मानी जा सकती हैं। ऐसा मानने पर कात्यायन और शतपथ में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं बच रहती। हाँ इतना ब्रह्म अवश्य है कि ऐसा सब कुछ मानने पर ऊपर आये 'स्विष्टकृत् होम' के दो भागों में सम्पन्न होने वाला मानना होगा इस के प्रथम भाग को आज्य से सम्पन्न होने वाला और दिवतीय भाग को अश्व के पके हुए रक्त की तीन आहुतियों से सम्पन्न होने वाला।

### दिवपदाहोमः

श्रौतसूत्रकार कात्यायन और वाजसनेयिसंहिता के भाष्यकार महीधर आदि स्विष्टकृत् अग्नियों के निमित्त अश्व के लोहित की आहुतियों को दे दिये जाने के बाद 'दिवपदाहोम' करने का विधान करते हैं। शतपथ ब्राह्मण 'दिवपदाहोम' को 'अश्वस्तामीय' के बाद करने का विधान करता है<sup>1</sup> वस्तुतः ऊपर<sup>3</sup> 'स्विष्टकृत् होम' के अङ्ग के रूप में जिन सौलह आज्य आहुतियों के दिये जाने का उल्लेख किया गया है, ब्राह्मण की दृष्टि में वे सौलह आहुतियाँ ही 'अश्वस्तामीय' हैं। वह पशुओं को 'अश्वस्तामीय' मानता है और मनुष्यों को 'दिवपदा'<sup>4</sup>। अतः पशुओं से मनुष्यों को उत्कृष्ट बनाये रखाने के लिये वह 'अश्वस्तामीय' के बाद 'दिवपदाहोम' के किये जाने के पक्ष में है<sup>5</sup>। यहाँ हरिस्वामी का स्पष्टीकरण है कि शतपथ और

1. (क) का. श्रौ. सू. 20/8/11

(ग) मही० भा०, वा. सं. 25/46

(ग) 'उव० भा०' वही.

2. 'अश्वस्तामीय' हुत्वा दिवपदा जुहोति। 'श. भा. 13/3/6/3

3. दे० श्रौ० प्र० पृ०..... से.....

4. 'पशवो वा अश्वस्तामीयम् पुरुषां दिवपदाः।' 'श. भा. 13/3/6/4

5. 'पुरुष उपरिष्ठात् पशूनधि तिष्ठति।' 'वही.

कात्यायन आदि में क्रम का जो अन्तर दिखायी दे रहा है वह शाङ्गान्तर के विधानों के कारण है<sup>1</sup>। किन्तु कात्यायन आदि के मत में भी 'दिवपदाहोम' वस्तुतः अश्वस्तामीय के बाद ही हो रहा है। अतः ब्राह्मण के साथ कात्यायन आदि का कोई विरोध नहीं बनता।

दिवपदाहोम वाजसनेयिसंहिता के पच्चीसवें अध्याय की अन्तिम दो कण्डिकाओं- द्वालीस और सैतालीस में आये छः वाक्यों से सम्पन्न होता है<sup>2</sup>। ब्राह्मण और कात्यायनश्रौतसूत्र-दोनों ही में दिवपदाहोम के लिये किसी द्रव्य का उल्लेख नहीं है। किन्तु वैदिक यज्ञों के सन्दर्भ में 'आज्यद्रव्यमनादेशो जुहोतिषु विधीयते'<sup>3</sup> ऐसी व्यवस्था विद्यमान होने के कारण यह मानना होगा कि अश्वमेधा का दिवपदाहोम 'आज्य' द्रव्य से सम्पन्न किया जाता था।

ब्राह्मण का विशेष निर्देश है कि 'दिवपदाहोम' को ही अश्वमेधा (के मध्यम अह) की 'उत्तमा आहुति' बनाया जाय, किसी अन्य को नहीं<sup>4</sup>। इस सन्दर्भ में इगलिंग का कहना है कि 'दिवपदा उत्तमा जुहोति' कह कर ब्राह्मण कात्यायन के मत में 'मानो मित्र' आदि से दी जाने वाली सौलह आहुतियों के बाद 'द्युलोक' और 'पृथिवीलोक' के लिये दी जाने वाली दो आहुतियाँ को अनुचित ठहराता है<sup>5</sup>। किन्तु इगलिंग का ऐसा कहना ठीक नहीं है।

1. हरिः भा०, वही.

2. का०श्रौ०सू 20/8/11.

3. उद्धृत, सं. सा०टी०, क. श्रौ. सू. 20/8/4

4. श. ब्रा. 13/3/6/5

5. इगलिंग, श. ब्रा., भा०-5, पृ० 342.

'द्विपदा उत्तमा जुहोति' कहने में ब्राह्मण का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह उस्त दो आहुतियों के दिये जाने की अनुचित समझता है। उस का प्रतिपाद्य यह है कि अश्वमेधा की 'उत्तमा आहुति' द्विपदा ही है। द्विपदा ही प्रतिष्ठा है। अश्वमेधा में इसे सम्पन्न कर यजमान प्रतिष्ठित हो जाता है।

\*\*\*\*\*  
\*\*\*\*\*

-----  
1. 'प्रतिष्ठा वै द्विपदाः। प्रत्येष तिष्ठति।'।

श. ब्रा. 13/3/6/5.



★ परिशिष्ट ★  
\*\*\*\*\*

## परिशिष्ट (1)

॥ राजा दशरथा का अश्वमेधा ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यऋमिर्विधीयताम् ।

शान्तयश्चाभिर्वर्धन्ता यथाकल्पं यथाविधि ॥

ब००१०, ब००का 12/16

पुनः प्राप्तौ वसन्तौ तु पूर्णः संवत्सरो भवत् ।

प्रसवार्घ्यं गतौ यष्टुं ह्यमेधोन वीर्यवान् ॥ वही 13/1

अथा संवत्सरे पूर्णं तस्मिन् प्राप्तौ तुरङ्गमे ।

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञो भ्यवर्तत ॥ वही 14/1

प्रवर्ग्य शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं दिवजाः ।

चक्रश्च विधावत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ वही 14/4

अभिपूज्य तदा दृष्ट्वा सर्वं चक्र्यथाविधि ।

प्रातः सवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ वही 14/5

ऐन्द्रश्च विधावद् दत्तौ राजा चाभिधुतौ नचाः ।

मध्यन्दिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥ वही 14/6

तृतीयसवनं चैव राज्ञो स्य सुमहात्मनः

चक्रुस्ते शास्त्रतः दृष्ट्वा यथा ब्रह्मणापुङ्गवाः ॥

वही 14/7

प्राप्तौ यूपोक्तये तस्मिन् षड् केल्वान् जादिरास्तथा ।

तावन् यो बिल्वसहिताः पर्णानश्च तथा परे । वही 14/22

श्लेष्मातकमयो दिष्टो देवदास्मयस्तथा ।

द्वावेव तत्र विहितौ बहुव्यस्तपरिमहौ ॥ वही 14/23

अरिताः सर्व एवैते शास्त्रैर्यज्ञोविदेः ।

शोभार्घ्यं तस्य यज्ञस्य का नालकृतामाक् ॥ वही 14/24

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।

वासाभिरेकविंशदिरेकैकं समलकृताः ॥

वही 14/25

विन्पस्ता विधिं वत् सर्वं शिल्पिभिसुकृतादृष्टः ।	
अष्टास्त्रयः सर्व एव श्लक्ष्णस्य समन्विताः ॥	वही 14/26
आच्छादितास्तै वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः ।	
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥	वही 14/27
दृष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणाः ।	
चितो ग्निर्ब्रह्मणोस्तत्र कुशलेः शिल्पकर्मणि ॥	वही 14/28
सचित्या राजसिंहस्य सञ्चितः कुशलेर्दिव्यैः ।	
गच्छा रुक्मपक्षा वै त्रिगुणो ष्टादशात्मकः ॥	वही 14/29
नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य देवतम् ।	
उरगाः पक्षिणाश्चैव यथाशास्त्रं प्रवोदिताः ॥	वही 14/30
शामित्रे तु ह्यस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।	
कृषिभिः सर्वमैवैतन्मन्युक्तं शास्त्रतस्तदा ॥	वही 14/31
पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।	
अ वरत्मैत्तर्भा तत्र राज्ञो दशरथास्यह ॥	वही 14/32
कौसल्या त ह्यं तत्र परिचर्य समन्ततः ।	
कृपाणोर्विससारैन त्रिभिः परमया मुदा ॥	वही 14/33
पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चैतसा ।	
अवसद् रजनीमेका कौसल्या धर्मकाम्यया ॥	वही 14/34
होताध्वर्युस्तथाद्वाता हस्तेन समयोजयन् ।	
महिष्या परिवृत्याथा वावातामपरा तथा ॥	वही 14/35
पतत्रिणास्तस्य वपायुद् धृत्य निपतैर्न्द्रियः ।	
मृत्विस्परम सम्पन्नः अपपा मास शास्त्रतः ॥	वही 14/36
धूमगन्धा वपपास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।	
यथाकलं यथान्यायं निर्णुदन पापमात्मनः ॥	वही 14/37

हयस्य यानि वाङ्मानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः ।

अग्नीं प्राप्स्यन्ति विधावत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥ वही 14/38

प्लक्षारारवासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः ।

अश्वमेधास्य यज्ञस्य धैतसां भाग इष्यते ॥ वही 14/39

यहां अश्वमेधाः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः ।

चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ वही 14/40

उक्त्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम् ।

कारितास्तत्र ब्रह्मो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ वही 14/41

ज्योतिष्टोमायुष्मि वैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।

अभिजिदेव वज्रिचैवमाप्तायेर्यामौ महाक्रतुः ॥ वही 14/42

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः ।

अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्राह्मणं दक्षिणां दिशम् ॥ वही 14/43

उद्गात्रे तु तपोदीचीं दक्षिणीणां विनिर्मिता ।

अश्वमेधो महायज्ञे स्वयंभूविहितै पुरा ॥ वही 14/44

क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः ।

ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धाराता कुलवर्धनः ॥ वही 14/45

एवमुक्तां नरपतिर्ब्राह्मणो वैदपारगैः ।

गवां शतसहस्राणि दश तैभ्यो ददौ नृपः ॥ वही 14/50

दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम्

ऋत्विजस्तु ततः सर्वं प्रददुः सहिता वसु ॥ वही 14/51

परिशिष्ट (2)

॥ राजा राम का वरवमेधा ॥

वसिष्ठं वामदेवं च जाबालिमथा कश्यपम् ।	
दिवजं श्रुत्वा सर्वप्रवरानश्वमेधापुरस्कृतान् ॥	वा० रा० ०३०/०९१/२
एतान् सर्वान् समानीय मन्त्रपित्वा च लक्ष्मणम् ।	
हयं लक्ष्मणं सम्पन्नं विमोक्षयामि समाधिनाम् ॥	वा० रा० ०९१/३
का नी मम पत्नी च दीक्षायां ज्ञा कर्माणि ।	
अमर्ता भारतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः ॥	वा० रा० ०९१/२५
तत् सर्वमिच्छतेनाशु प्रस्थाप्य भारताग्रजम् ।	
हयं लक्ष्मणसम्पन्नं कृष्णसारं मुमोक्ष ह ॥	वा० रा० ०९२/१
ऋत्विग्भिर्मर्त्यलक्ष्मणं सार्धमश्वै च विनिपुज्य च ।	
ततो भ्यगच्छत् काकुत्स्थः सह सैन्येन नैमिषम् ॥	वा० रा० ०९२/२
यज्ञघाटं महाबाहुर्दृष्ट्वा परममद्भुतम् ।	
महर्षमतुलं तेभ्यो श्रीमानिति च सां ब्रवीत् ॥	वा० रा० ०९२/३
नैमिषे वसतस्तस्य सर्व एव नराधिपाः ।	
आनिम्युस्महाराश्वं तान् रामः प्रत्यपूजयत् ॥	वा० रा० ०९२/४
एवं सुविहितो यज्ञो ह्यश्वमेधां ह्यवर्तत ।	
लक्ष्मणेन सुगुप्ता सा हयवर्षा प्रवर्तत ॥	वा० रा० ०९२/९

-----

परिशिष्ट (3)

॥ राजा युधिष्ठिर का अश्वमेध ॥

- श्वेताश्व कृष्णासारं तं ससाराश्वं धानजयः ।  
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥ महा. भा., जा. प 73/7
- प्रस्थाप्यन्ती हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।  
वाजिमैधार्घ्यं सिद्धार्घ्यं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥ वही 85/9
- ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थापितभिः सह ।  
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञ कर्मणि ॥ वही 85/11
- ततः शालक्यं श्रीमत् सप्रतापीसुधाद्वितम् ।  
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधिः ॥ वही 85/12
- प्रासादशतं सम्बार्धं मणिं प्रवरं कुट्टिमम् ।  
कारयामास विधिबद्धैरत्नविभूषितम् ॥ वही 85/13
- स्तम्भान् कनककिंशुकं तोरणानि ब्रूहन्ति च ।  
यज्ञायतनं देशेषु दत्त्वा शुद्धं च काननम् ॥ वही 85/14
- यूपैश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान् ॥  
उपक्रुप्तान् यथाकालं विधिवद् भूरिवर्चसः ॥ वही 85/31
- स्थाल्यां जतया ये च पशवः केचन प्रभाते ।  
सर्वेनैव समानीतान् पश्यस्तत्र ते नृपाः ॥ वही 85/32
- गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धास्त्रियोऽपि च ।  
जौदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयसि च ॥ वही 85/33
- जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्मुदिदानि च ।  
पर्वतानूपजातानि भूतानि दहशुश्च ते ॥ वही 85/34
- एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनं धाम्न्यतः ।  
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ वही 85/35
- ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते भङ्गैरुवान् भारतर्षभाः ।  
आदिरान् क्रिन्वसमितास्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ वही 88/27

देवदात्मयो द्वाौ तु यूपौ कुस्पते र्मोः ।

स्तेष्मातकमयं चैकं याजकः समरूपयन् ॥ वही 88/28

शोभार्थं चापरान् यूपान का नान् भारतर्षभा ।

स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ॥ वही 88/29

ते ऋषराजन्त राजर्षीर्वसोभिस्मशांश्चिता ।

महेन्द्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिषि ॥ वही 88/30

दृष्टकाः का नीश्वाञ्च वयनार्थं कृता भवन् ।

शुशुभौ वयनं तच्च दक्षास्येव प्रजापतेः ॥ वही 88/31

चतुश्चित्पञ्च तस्यासीद् दृष्टादशकरात्मकः ।

स रुक्मपक्षा निमित्तस्त्रिकोणो गच्छाकृतिः ॥ वही 88/32

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।

त त देव समुद्दिश्य पक्षिणाः पशवश्च ये ॥ वही 88/33

ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।

सर्वास्तानभ्यपुज्यस्ते तत्राग्निवपकमर्षिणः ॥ वही 88/34

यूपेषु निष्ठा चासीत् पशूनां त्रिशतीतथा ।

अश्वरत्नात्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ वही 88/35

अपचित्वा पशून्यान् विधिवद् दिवजसत्तमाः ।

त तुरङ्गं यथाशास्त्रमात्मभान्तं दिवजातयः ॥ वही 89/1

ततः संप्रप्य तुरगं विधिवद् याजकास्तदा ।

उपसवेशयन् राजस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ॥ वही 89/2

क्लाभिस्त्रिभिराग्निभिः राजन् यथा विधिं मनस्विनीम् ।

उदृत्य तु वर्षा तस्य यथाशास्त्रं दिवजातयः ॥ वही 89/3

अपयामासुरव्यमा विधिवद् भारतर्षभा ।

त वपाधूमगन्धां तु धर्मं राज्ञ सहानुजैः ॥ वही 89/4

उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।

शिष्टान्यद्गानि यान्यासस्तस्या श्वस्य नराधिपः ॥ वही 89/5

\*\* સન્દર્ભ ગ્રન્થા- સૂચી \*\*  
\*\*\*\*\*



समाहृत सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र	ज०अ०अ०सीरीज न०14 न्यूहैवेन 1890 ।
अथर्ववेद संहिता	श्री पाददामोदर सातव्हीकर स्वाध्याय मण्डल, पारङ्गी । जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब, महत, इलाहाबाद, 1978।
अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका	
आपस्तम्बीय श्रौत सूत्रम् (श्री रामाग्निचित् प्रब्रं वृत्ति एवं धूर्त स्वामी भाष्य सहित)	गेरियटल रिसर्व इंस्टीट्यूट मैसूर, 1954 ।
आपस्तम्बपरिभाषासूत्र	अ०आर०आई०संस्कृत सीरीज, मैसूर, 1945 ।
आर्षय ब्राह्मण (ताण्ड्योक्त) ईशावास्यापनिषद् (शांकर भाष्य सहित)	वर्नल ए०सी०मंगलूर, 1878 । गीता प्रेस, गोरखपुर, पन्द्रहवा संस्करण ।
उणादिसूत्र ( आचार्य पाणिनी)	रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1974 ।
उपनिषद् वाक्यकोष	मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी 1963 ।
उद्योग पर्व	महादेव गजाधार भाट्ट वाक्रे, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, 1920 ।
उपदेशसाहस्री	सुब्रमण्यशास्त्री, महेश रिसर्व इंस्टीट्यूट माउण्ट आबू, 1978 ।
ऐतरेय ब्राह्मण	सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1900
ऐतरेय लोचन	सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1906
ऐतरेय ब्राह्मण (सायणाभाष्य सहित)	गणपत राव यादव राव नातू, आनन्दा श्रम, मुद्रणालय, पुना, 1977 ।

ऐतरेयोपनिषद्  
ऋग्वेद संहिता भाग-4

ऋग्वेद संहिता  
ऋग्वेद-शाक्लसंहिता

ऋग्वेद भाष्य

ऋग्वेद भाष्य भूमिका  
(आचार्य सायण)

ऋग्वेदभाष्यभूमिका  
(स्वामी दयानन्द)

ऋग्वेदानुक्रमणी  
(आचार्य माधव)

ऋक्सामानुक्रमणी  
(षड्गुरुशिष्यवृत्ति)

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों  
का इतिहास (युधिष्ठिर  
मीमांसक)

ऋषि दयानन्द के फ़ और  
विज्ञापन (भागवद्दत्त)

ऋग्वेदोपनिषद्

काठक संहिता

कात्यायन श्रौतसूत्र  
(प० गोपालशास्त्री नैने)

गीताप्रेस, गौरछापुर, आठवां संस्करण।  
एफ० मैक्समूलर, चौछांम्बा संस्कृत सीरीज  
आफिस विद्याविकास प्रेस वाराणसी,  
1966 ।

वैदिक संशोधन मण्डल, पूना ।  
सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, प्रथम  
संस्करण ।

स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय  
अजमेर 1972 ।

भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी,  
द्वितीय संस्करण ।

रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, द्वितीय  
संस्करण ।

कलकत्ता, 1893 ।

जान्सपोर्ट, 1886 .

अजमेर, 1949 .

रामलालकपूर ट्रस्ट, सोनीपत, द्वितीय  
संस्करण ।

गीता प्रेस, गौरछापुर, पन्द्रहवां संस्करण।

सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1943

चौ०स०सी०ओ०, विद्याविकासप्रेस, बनारस,  
1939 .

कैनेपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखापुर, बारहवीं संस्करण, संवत् 2033 .
कैवल्यापनिषद्	लक्ष्मीवैकटेश्वर मुद्रणालय, कल्याण मुंबई, संवत् 1972 .
कात्यायन गृह्यसूत्र	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी 1987 वि० .
काण्व संहिता	सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, सतारा, 1997
काशिकावृत्ति (वामनजयादित्य)	चौहाम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1952
कौषीतकी ब्राह्मण (विश्वेश्वरानन्द)	वैदिक शांति संस्थान, होशियारपुर के पुस्तकाल में उपलब्ध ।
गौपथा ब्राह्मण (क्षेमकरण दास)	प्रयाग, 1924 ।
गणेश गीता (नीलकंठ कृत टीकासमेता)	हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणा- लय, पूना 1906 ।
छन्दो नुक्रमणी	वैकटमाधव, कलकत्ता, 1893 .
छन्दः सूत्र (आचार्य पिंगल)	चौहाम्बा विद्याभावन, वाराणसी, द्वि० 0 संस्करण ।
छान्दोग्य ब्राह्मण	संस्कृत, महाविद्यालय, कलकत्ता 1958 ।
छान्दोग्य उपनिषद्	स्वामी स्वाहानन्द, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1956 ।
छान्दोग्य उपनिषद्	स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम कलकत्ता, 1975 ।
छान्दोग्य उपनिषद् (शांकर भाष्य सहित)	गीता प्रेस, गोरखापुर, संवत् 2021 ।

जैन दर्शन	मल्लिहागर ग्रन्थमाला, नौद गांव, नासिक, वीर संवत् 2480 .
जैनधर्म	कैलाश चन्द्र शास्त्री, साहित्य विभाग, भारतीय दिगम्बर, जैनसंघ, मधुरा 1955
जैमिनीयापनिषद् ब्राह्मण	वैदिक संशोधन मण्डल, पुना, 1958 .
जैमिनीय ब्राह्मण	डी०ए०वी०, कालेज, लाहौर, 1927 .
जैमिनीसूत्र (आचार्य जैमिनी)	युधिष्ठिर, प्रीमासक, सोनीपत, प्रथम संस्करण ।
तर्कभाषा (आचार्य विश्वेश्वर)	चौहाम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वारा- णसी, 1971 .
तैत्तिरीयापनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर, ग्यारहवां संस्करण, संवत् 2023 ।
तन्त्रशास्त्रों का पर्यालोचन तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण	पी०डी०गुप्त, बम्बई, 1963 . आनन्दाश्रम, पुना, प्रथम संस्करण . एशियाटिक सोसाइटी, आफ बंगाल कलकत्ता, 1859 .
तैत्तिरीय संहिता	सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1945
तैत्तिरीय संहिताभाष्य	आचार्य सायण, कलकत्ता, 1860-1899 .
तैत्तिरीय संहिताभाष्य ( भाट्टभास्कर मिश्र)	गवर्नमेण्ट, ओ०सीरीज, मैसूर, 1894 .
द महाभारत भाग-1 ( आदि पर्व)	भाण्डारकर, ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुना, 1933 .
वी०एस०सुभाषकर	

द महाभारत भाग-6

(उद्योग पर्व)

एस0के0डे0

भाण्डारकर,ओरिएन्टल रिसर्च

इंस्टीट्यूट,पूना 1940 .

द भागवद्गीता विदद

सनत्सुजातीय एण्ड

अनुगीता

सेक्रिड बुक्स आफ ईस्ट,भाग ६,

आन्सफोर्ड,मोतीलाल बनारसीदास,

1965 .

द कम्पलीट वर्क्स आफ

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी बुद्धानन्द,अद्वैत आश्रम,

कलकत्ता,1972 .

द ज्ञान दीपिका

(महाभारत तात्पर्यटीका)

एस0के0डे0,भारतीय विद्याभवन,

बम्बई,1944 .

धर्मशास्त्र का इतिहास

पी0वी0काणो,हिन्दी समिति उत्तर-

प्रदेश शासन लखनऊ लीडर प्रेस,

इलाहाबाद ।

निरुक्त

(आचार्य यास्क)

मोतीलाल बनारसीदास,1967 .

निरुक्तशास्त्रम्

भागवदत्त,श्रीरामलाल,रूपूर ट्रस्ट

अमृतसर,संवत् 2021 .

निरुक्तटीका

दुर्गा चार्य, आनन्दाश्रम, पूना,1921.

निरुक्त टीका

( स्कन्दस्वामी)

बैकटेश्वर प्रेस,बम्बई,प्रथम संस्करण।

निरुक्त समुच्चय

(वररुचि)

युधिष्ठिर मीमांसक,अजमेर प्रथम

संस्करण ।

निघण्टु

मोतीलाल बनारसी दास,1967 .

(आचार्य यास्क)

नाट्यशास्त्र ( भारत )	काव्यमाला 42, नि०सा०प्रे० बम्बई, 1943 .
नीतिशतकम्	भार्तृहरि, हरिदास संस्कृत ग्रन्थ माला, चौ० सं०पु० बनारस सिटी, संवत् 1996 .
न्यायमञ्जरी	सूर्यनारायण शुक्ल ।
न्याय दर्शन (न्यायशास्त्र प्रसन्नपद) सहित	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, सासुन बिल्डिंग, बाजार ग्रेटस्ट्रीट, मुंबई, 1906 .
न्याय सिद्धांत मुक्तावली	गजानन शास्त्री, मुसलगावकर चौडाम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1978 .
पाणिनीय धातुपाठ	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, तृतीय संस्करण ।
पारस्कर गृह्यसूत्र	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी प्रथम संस्करण ।
पद्मपुराण	पन्नालाल जैन, भारती यज्ञान पीठ, प्रकाशन, 1944 .
पद्मञ्जरी	हरदत्त, काशी संस्कृत सीरीज
पार्तजलयोगसूत्राणि (व्यास भाष्य एवं वाचस्पति मिश्रकृत टीका समेत)	हरिनारायण आपटे, आनन्द आश्रम, मुद्रणालय पूना, 1919 .
पार्तजलयोग प्रदीप	स्वामी आमानन्द तीर्था, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2016 .
पार्तजल योगशास्त्र ( एक अध्ययन )	डा० अमरदत्त अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1978 .

पाणिनीय धातुपाठ	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, तृतीय संस्करण ।
पारस्कर गृह्यसूत्र	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, प्रथम संस्करण ।
प्रश्नोपनिषद्	गीता प्रेस, गौरछापुर, दशम संस्करण संवत् 2024 .
प्राचीन भारतीय संस्कृति	बी०एन० लूनिया, लक्ष्मी नारायण अमवाल, आगरा, 1972 .
प्राचीन भारतीय साहित्य भाग-1	विन्टर निट्ज, मोतीलाल बनारसीदास, 1966
प्राचीन भारत का बौद्धाकालीन इतिहास	जनार्दन भट्ट, लखनऊ, 1977 .
बृहदारण्यक उपनिषद्	गीता प्रेस, गौरछापुर, संवत् 2025 .
बृहद्देवता	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1843 .
ब्रह्मसूत्र	शंकराचार्य ग्रन्थावली, तृतीय भाग, मोतीलाल बनारसीदास, 1964 .
ब्रह्म मीमांसा	श्रीकण्ठशिवाचार्य, गवर्नमेन्ट ऑरिएण्टल लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर, 1903 .
ब्रम्हाण्डपुराण	ओल्डसीरीज, कलकत्ता, प्रथम संस्करण ।
भगवद्गीता ( शंकर भाष्य)	श्री हरिकृष्णदास गायन्दका, गीता प्रेस, गौरछापुर, संवत् 2032 .
भारतीय दर्शन भाग 1, 2	डा० एस० राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1969 .
भारतीय दर्शन	कलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी ।

भारतीय दर्शन	दत्त एवं चटर्जी
भारतवर्ष का इतिहास (भागदत्त)	वैदिक शाखा संस्थान, पंजाब संवत् 2003
मनुस्मृति (मन्वर्धामुक्तावली सहित)	चौडाम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी.
मनुस्मृति (कुल्लुकटीका)	चौडाम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी ।
मत्स्यपुराण	वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
महाभाष्य	पतञ्जलि, चौडाम्बा सं०सी०, 1954 .
महाभारत (उद्योग पर्व)	मोतीलाल जालान, गीताप्रेस गोरखपुर
महाभारत (नीलकंठी सहित)	शंकर नरहर जोशी, चित्रशाला प्रेस, पुना, 1933
महाभारत (तात्पर्य प्रकाश)	अलोपी प्रसाद ई०जे०लाजरस कम्पनी, मेडीकल हाल यन्त्रणालय काशी, संवत् 1972 .
माध्यान्दिन शतपथ ब्राह्मण	चौडाम्बा सं०सी० वाराणसी, 1962
माध्यान्दिन संहिता	सातक्लेकर, स्वाध्याय मण्डल सतारा ।
माध्यान्दिनसंहिता भाष्य	उवट-महीधर, मोतीलाल-बनारसी दास, 1971 .
मुण्डकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर, बारहवा संस्करण, संवत् 2032 .



या ज्ञत्क्य स्मृति	उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौडाम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस 1967
योगदर्शन	प० श्री राम शर्मा, संस्कृति संस्थान, वरेली, 1971.
यजुर्वेद भाष्य विवरण	ब्रह्मदत्त विज्ञासु, रामलात कपूर ट्रस्ट, वाराणसी ।
यजुः सर्वानुक्रमसूत्र (आचार्य कात्यायन)	स्वाध्यायमण्डल, सतारा, 1953
रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ, नि० सा० प्रे० बम्बई ।
वाल्मीकीय रामायण	गीताप्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण संवत् 2033 .
वेदान्तसार	डा० राममूर्ति शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1978 .
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजचवरीन्द्र, रामकृष्णमिशन, शारदापीठ, बेरमठ हावड़ा ।
वेदान्त परिभाषा	गजानन शास्त्री, मुसलगांव कर चौडाम्बा, सुरभारती, प्रकाशन, वाराणसी, 1978 .
वैदिक देवशास्त्र	डा० सूर्यकान्त, भारत-भारती, दरियागंज, दिल्ली, 1961 .
वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर, काशी 1967 .
वैदिक पदानुक्रम कौश	विश्वबन्धु शास्त्री, शान्ताकुटी, वैदिक ग्रन्था माला, लाहौर, 1936 .

वैदिक छन्दोमीमांसा  
( युधिष्ठिर मीमांसक)

रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1959 ।

वैदिक युग और आदि  
मानव

काननाथ शास्त्री, सार्वदेशिक सभा,  
दिल्ली ।

वैदिक वाङ्मय का  
इतिहास

भागवद्दत्त-सत्यप्रकाश, प्रकाशन,  
1976 .

वैदिक-स्वर-मीमांसा  
युधिष्ठिर मीमांसक

रामलाल कपूर ट्रस्ट 1957 .

शतपथ ब्राह्मण  
(भाग ६ )

गंगा प्रसाद उपाध्याय, द रिसर्च इंस्टी-  
ट्यूट ऑफ एनसिएन्ट साइन्टीफिक  
स्टडीज, नई दिल्ली, 1970 .

शतपथ ब्राह्मण  
(वैदार्थ प्रकाश भाष्य  
सहित)

गंगा विष्णु श्री कृष्णदास लक्ष्मी  
वैकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई,  
1940 ।

शुक्ल यजुर्वेद संहिता

पं० जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल  
नारसीदास, 1971 .

शाखायन आरण्यक

आनन्दाश्रम, पूना, 1922 .

शाखायन गृह्यसूत्र

ओरियण्टल बुकसेलर, दिल्ली 1960 .

शाखायन श्रौतसूत्र

कलकत्ता 1891 .

श्वेताश्वतरमन्त्रोपनिषद्

आनन्दाश्रम, पूना ।

श्री मद् भागवद्गीता रहस्य

तिलक, नवजीवन, प्रिंटिंग प्रेस, पुणे ।

श्री मद् भागवद्गीता

विनायक गणेश आपटे, आनन्दाश्रम,

(आनन्द गिरि टीका समेत)

मुद्रणालय, पूना, 1936 .

श्री एकदशोपनिषद् (मणिप्रभा, मिताक्षारा सहित)	मोतीलाल बनारसीदास
सरस्वती कण्ठाभरण	भाजदेव, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1934 .
सत्यार्ध प्रकाश	स्वामी दयानन्द, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली, 1976 .
साहित्य दर्पण (विश्वनाथ)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1955
सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1942
स्वरानुक्रमणी	बंकट माधव, कलकत्ता, 1893 .
हरिवंश पुराण	डोमराज श्री कृष्णदास, बम्बई ।
हिन्दू सिक्विडवेशन	राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल, 1959
हिम्स आफ दशु ग्वेद ( ग्रिफ्थ)	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली
हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर	विक्टर नित्स, ओरियण्टल बुक दिल्ली, 1972 .
हिस्ट्री आ फ संस्कृत लिटरेचर	कीष्ठा, वाक्सपोर्ट, 1928 .
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	दास गुप्ता एवं एस०के०डे० कलकत्ता वि०वि०, 1947 .